रवीन्द्रनाथ ठाकुर

# काबुलीवाला

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

# काबुलीवाला

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अन्यतम कथा-कृति 'काबुलीवाला' सहित 15 अन्य प्रतिनिधि कहानियों को संकलित किया गया है। ये सभी कहानियाँ विश्व के श्रेष्ठ कहानीकारों की रचनाओं के समक्ष रखी जाती हैं। प्रत्येक कहानी अपने में मानवीय प्रेम को समेटे हुए है तथा पाठक के अन्तर्मन को हृदय की गहराई तक झंकृत कर देती हैं।

'काबुलीवाला' रवि बाबू द्वारा रचित एक अविस्मरणीय कहानी है जिसमें एक पठान के अपनी लड़की की याद में एक ऐसे भावनात्मक रिश्ते को दर्शाया गया है जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता। उसका प्यारा प्यार जो उसकी अपनी लड़की के लिए था, वह उस नन्ही मिनी पर उड़ेल देता है, जिसे वह अपनी लड़की के रूप में देखता है और अन्त में उस नन्ही मिनी के ब्याह पर अपनी शुभकामनाएँ देकर अपने भावों को प्रकट करता है।

इस कहानी पर 'काबुलीवाला' नामक एक सफल फिल्म भी बन चुकी है, जिसमें स्व० बलराज साहनी ने पठान की यादगार भूमिका निभाई थी। इस पुस्तक में कहीं-कहीं पर आये कठिन वाक्यांशों को रवीन्द्रनाथ ठाकुर की लेखन-शैली को जीवित रखते हुए सुयोग्य सम्पादक की देख-रेख में सरल बनाने का प्रयास किया गया है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अन्यतम कथा-कृति 'काबुलीवाला' सहित 15 अन्य प्रतिनिधि कहानियों को संकलित किया गया है। ये सभी कहानियाँ विश्व के श्रेष्ठ कहानीकारों की रचनाओं के समक्ष रखी जाती हैं। प्रत्येक कहानी अपने में मानवीय प्रेम को समेटे हुए है तथा पाठक के अन्तर्मन को हृदय की गहराई तक झंकृत कर देती हैं।

'काबुलीवाला' रवि बाबू द्वारा रचित एक अविस्मरणीय कहानी है जिसमें एक पठान के अपनी लड़की की याद में एक ऐसे भावनात्मक रिश्ते को दर्शाया गया है जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता। उसका प्यारा प्यार जो उसकी अपनी लड़की के लिए था, वह उस नन्ही मिनी पर उड़ेल देता है, जिसे वह अपनी लड़की के रूप में देखता है और अन्त में उस नन्ही मिनी के ब्याह पर अपनी शुभकामनाएँ देकर अपने भावों को प्रकट करता है।

इस कहानी पर 'काबुलीवाला' नामक एक सफल फिल्म भी बन चुकी है, जिसमें स्व० बलराज साहनी ने पठान की यादगार भूमिका निभाई थी। इस पुस्तक में कहीं-कहीं पर आये कठिन वाक्यांशों को रवीन्द्रनाथ ठाकुर की लेखन-शैली को जीवित रखते हुए सुयोग्य सम्पादक की देख-रेख में सरल बनाने का प्रयास किया गया है।

# काबुलीवाला

# काबुलीवाला

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

**बाल साहित्य प्रकाशन**

गाजियाबाद

# काबुलीवाला

# विषय सूची


- काबुलीवाला 9
- खोया हुआ मोती 18
- भिखारिन 33
- कवि और कविता 39
- विदा 44
- पाषाणी 58
- अंतिम प्यार 77
- कवि का हृदय 89
- यह स्वतंत्रता 92
- भाई-भाई 97
- धन की भेंट 108
- अनमोल भेंट 119
- सीमान्त 125
- पिंजर 141
- विद्रोही 148
- कंचन 155

# काबुलीवाला

## काबुलीवाला

मेरी पांच वर्ष की छोटी लड़की मिनी से पल-भर भी बात किए बिना नहीं रहा जाता। दुनिया में आने के बाद भाषा सीखने में उसने सिर्फ एक ही वर्ष लगाया होगा। उसके बाद से जितनी देर तक सो नहीं पाती है, उस समय का एक पल भी वह चुप्पी में नहीं खोती। उसकी माता बहुधा डांट-फटकारकर उसकी चलती हुई जुबान बंद कर देती है, लेकिन मुझसे ऐसा नहीं होता। मिनी का मौन मुझे ऐसा अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है कि मुझसे वह अधिक देर तक सहा नहीं जाता और यही कारण है कि मेरे साथ उसके भावों का आदान-प्रदान कुछ अधिक उत्साह के साथ होता रहता है।

सवेरे मैंने अपने उपन्यास के सत्रहवें अध्याय में हाथ लगाया ही था कि इतने में मिनी ने आकर कहना आरम्भ कर दिया—"बाबूजी! रामदयाल दरबान कल 'काक' को कौआ कहता था। वह कुछ जानता ही नहीं, न बाबूजी?"

विश्व की भाषाओं की विभिन्नता के विषय में मेरे कुछ बताने से पहले ही उसने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया—"बाबूजी! भोला कहता था, आकाश मुंह से पानी फेंकता है, इसी से बरसात होती है। अच्छा बाबूजी, भोला झूठ-मूठ कहता है न? खाली बक-बक किया करता है, दिन-रात बकता रहता है।"

इस विषय में मेरी राय की तनिक भी राह न देख करके, चट से धीमे स्वर में एक जटिल प्रश्न कर बैठी—"बाबूजी! मां तुम्हारी कौन लगती है?"

मन-ही-मन में मैंने कहा, साली और फिर बोला—"मिनी! तू जा, भोला के साथ खेल, मुझे अभी काम है, अच्छा।"

फिर उसने मेरी मेज के पार्श्व में पैरों के पास बैठकर अपने दोनों घुटने और हाथों को हिला-हिलाकर बड़ी शीघ्रता से मुंह चलाकर 'अटकन-बटकन दही चटाके' कहना आरम्भ कर दिया। जबकि मेरे उपन्यास के अध्याय में प्रताप सिंह उस समय कंचन माला को लेकर रात्रि के प्रगाढ़ अंधकार में बंदीगृह के ऊंचे झरोखे से नीचे कलकल करती हुई सरिता में कूद रहे थे।

मेरा घर सड़क के किनारे पर था। अचानक मिनी अपने अटकन-बटकन को

छोड़कर कमरे की खिड़की के पास दौड़ गई और जोर-जोर से चिल्लाने लगी—"काबुल वाला ओ काबुल वाला।"

मैले-कुचैले ढीले कपड़े पहने, सिर पर कुल्ला रखे, उस पर साफा बांधे कंधे पर सूखे फलों की मैली-सी झोली लटकाए, हाथ में चमन के अंगूरों की कुछ पिटारियां लिए, एक लम्बा-तगड़ा-सा काबुली मंद चाल से सड़क पर जा रहा था। उसे देखकर मेरी छोटी-सी बेटी के हृदय में कैसे भाव उदय हुए यह बताना असंभव है। उसने जोर से पुकारना शुरू किया। मैंने सोचा—'अभी झोली कंधे पर डाले, सिर पर एक मुसीबत आ खड़ी होगी और मेरा सत्रहवां अध्याय आज अधूरा रह जाएगा।'

किंतु मिनी के चिल्लाने पर ज्यों ही काबुली ने हंसते हुए उसकी ओर मुंह फेरा और घर की ओर बढ़ने लगा, त्यों ही मिनी भय खाकर भीतर भाग गई। फिर उसका पता ही नहीं लगा कि कहां छिप गई? उसके छोटे से मन में यह अंधविश्वास बैठ गया था कि उस मैली-कुचैली झोली के अंदर ढूंढ़ने पर उस जैसी और भी जीती-जागती बच्चियां निकल सकती हैं।

इधर काबुली ने आकर मुस्कराते हुए, मुझे हाथ उठाकर अभिवादन किया और खड़ा हो गया। मैंने सोचा—'वास्तव में प्रताप सिंह और कंचन माला की दशा अत्यन्त संकटापन्न है, फिर भी घर में बुलाकर इससे कुछ न खरीदना अच्छा न होगा।'

कुछ सौदा खरीदा गया। उसके बाद मैं उससे इधर-उधर की बातें करने लगा। रहमत, रूस, अंग्रेज, सीमान्त रक्षा के बारे में गप-शप होने लगी।

अंत में उठकर जाते हुए उसने अपनी मिली-जुली भाषा में पूछा—"बाबूजी! आपकी बच्ची कहां गई?"

मैंने मिनी के मन से व्यर्थ का भय दूर करने के अभिप्राय से उसे भीतर से बुलवा लिया। वह मुझसे बिल्कुल लगकर काबुली के मुख और झोली की ओर संदेहात्मक दृष्टि डालती हुई खड़ी रही।

काबुली ने झोली में से किशमिश और खुबानी निकालकर देनी चाही, परंतु उसने न ली और दुगने संदेह के साथ मेरे घुटनों से लिपट गई। उसका पहला परिचय इस प्रकार हुआ।

इस घटना के कुछ दिन बाद एक दिन सवेरे मैं किसी आवश्यक कार्यवश बाहर जा रहा था। देखूं तो मेरी बिटिया दरवाजे के पास बैंच पर बैठकर काबुली से हंस-हंसकर बातें कर रही है और काबुली उसके पैरों के समीप बैठा-बैठा मुस्कराता हुआ, उन्हें ध्यान से सुन रहा है और बीच-बीच में अपनी राय

मिली-जुली भाषा में व्यक्त करता जाता है। मिनी को अपने पांच वर्ष के जीवन में, बाबूजी के सिवाय, ऐसा धैर्य वाला श्रोता शायद ही कभी मिला हो। देखा तो उसकी फ्रॉक का अग्रभाग बादाम, किशमिश से भरा हुआ है। मैंने काबुली से कहा—"इसे यह सब क्यों दे दिया? अब कभी मत देना।"

यह कहकर कुर्ते की जेब में से एक अठन्नी निकालकर उसे दी। उसने बिना किसी हिचक के अठन्नी लेकर अपनी झोली में रख ली?

कुछ देर बाद, घर लौटकर देखता हूं कि उस अठन्नी ने बड़ा भारी उपद्रव खड़ा कर दिया है।

मिनी की मां एक सफेद चमकीला गोलाकार पदार्थ हाथ में लिए डांट-फटकारकर मिनी से पूछ रही थी—"तूने यह अठन्नी पाई कहां से, बता?"

मिनी ने कहा—"काबुली वाले ने दी है।"

"काबुली वाले से तूने अठन्नी ली कैसे, बता?"

मिनी ने रोने का उपक्रम करते हुए कहा—"मैंने मांगी नहीं थी, उसने आप ही दी है।"

मैंने जाकर मिनी की उस अकस्मात मुसीबत से रक्षा की और उसे बाहर ले आया। मालूम हुआ कि काबुली के साथ मिनी की यह दूसरी ही भेंट थी, सो कोई विशेष बात नहीं। इस दौरान में वह रोज आता रहा है और पिस्ता-बादाम की रिश्वत दे-देकर मिनी के छोटे-से हृदय पर बहुत अधिकार कर लिया है।

देखा कि इस नई मित्रता में बंधी हुई बातें और हंसी ही प्रचलित है। जैसी मेरी बिटिया, रहमत को देखते ही, हंसते हुए पूछती—"काबुल वाला ओ काबुल वाला, तुम्हारी झोली के भीतर क्या है?"

काबुली जिसका नाम रहमत था। एक अनावश्यक चंद्र-बिंदु जोड़कर मुस्कराता हुआ उत्तर देता—"हां बिटिया।"

उसके परिहास का रहस्य क्या है? यह तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इन नए मित्रों को इससे तनिक विशेष खेल-सा प्रतीत होता है और जाड़े के प्रभात में एक सयाने और एक बच्ची की सरल हंसी सुनकर मुझे भी बड़ा अच्छा लगता।

उन दोनों मित्रों में और भी एक-आध बात प्रचलित थी। रहमत, मिनी से कहता—"तुम ससुराल कभी नहीं जाना, अच्छा?"

हमारे देश की लड़कियां जन्म से ही 'ससुराल' शब्द से परिचित रहती हैं, लेकिन हम लोग तनिक कुछ नई रोशनी के होने के कारण तनिक-सी बच्ची को ससुराल के विषय में विशेष ज्ञानी नहीं बना सके थे, अतः रहमत का अनुरोध वह स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाती थी। इस पर भी किसी बात का उत्तर दिए

बिना चुप रहना उसके स्वभाव के बिल्कुल ही विरुद्ध था। उल्टे वह रहमत से ही पूछती—"तुम ससुराल जाओगे?"

रहमत काल्पनिक ससुर के लिए अपना जबरदस्त घूंसा तानकर कहता—"हम ससुर को मारेगा।"

सुनकर मिनी 'ससुर' नामक किसी अनजाने जीव की दुरावस्था की कल्पना करके खूब हंसती।

देखते-देखते जाड़े की सुहावनी ऋतु आ गई। पूर्व युग में इसी समय राजा लोग दिग्विजय के लिए कूच करते थे। मैं कोलकाता छोड़कर कभी कहीं नहीं गया। शायद इसीलिए मेरा मन ब्रह्माण्ड में घूमा करता है। यानी, मैं अपने घर में ही चिर प्रवासी हूं। बाहरी ब्रह्माण्ड के लिए मेरा मन सर्वदा आतुर रहता है। किसी विदेश का नाम आगे आते ही मेरा मन वहीं की उड़ान लगाने लगता है। इसी प्रकार किसी विदेशी को देखते ही तत्काल मेरा मन सरिता-पर्वत-बीहड़ वन के बीच में एक कुटीर का दृश्य देखने लगता है और एक उल्लासपूर्ण स्वतंत्र जीवन-यात्रा की बात कल्पना में जाग उठती है।

इधर देखा तो मैं ऐसी प्रकृति का प्राणी हूं, जिसका अपना घर छोड़कर बाहर निकलने में सिर कटता है। यही कारण है कि सवेरे के समय अपने छोटे-से कमरे में मेज के सामने बैठकर उस काबुली से गप-शप लड़ाकर बहुत कुछ भ्रमण कर लिया करता हूं। मेरे सामने काबुल का पूरा चित्र खिंच जाता। दोनों ओर ऊबड़-खाबड़, लाल-लाल ऊंचे दुर्गम पर्वत हैं और रेगिस्तानी मार्ग, उन पर लदे हुए ऊंटों की कतार जा रही है। ऊंचे-ऊंचे साफे बांधे हुए सौदागर और यात्री कुछ ऊंट की सवारी पर हैं तो कुछ पैदल ही जा रहे हैं। किसी के हाथों में बरछा है तो कोई बाबा आदम के जमाने की पुरानी बंदूक थामे हुए है। बादलों की भयानक गर्जन के स्वर में काबुली लोग अपनी मिली-जुली भाषा में अपने देश की बातें कर रहे हैं।

मिनी की मां बड़ी वहमी स्वभाव की थी। राह में किसी प्रकार का शोर-गुल हुआ नहीं कि उसने समझ लिया कि संसार-भर के सारे मस्त शराबी हमारे ही घर की ओर दौड़े आ रहे हैं? उसके विचारों में यह दुनिया इस छोर से उस छोर तक चोर-डकैत, मस्त, शराबी, सांप, बाघ, रोगों, मलेरिया, तिलचट्टे और अंग्रेजों से भरी पड़ी है। इतने दिन हुए इस दुनिया में रहते हुए भी उसके मन का यह रोग दूर नहीं हुआ।

रहमत काबुली की ओर से भी वह पूरी तरह निश्चिंत नहीं थी। उस पर विशेष नजर रखने के लिए मुझसे बार-बार अनुरोध करती रहती। जब मैं परिहास

के आवरण से ढकना चाहता तो मुझसे एक साथ कई प्रश्न पूछ बैठती—"क्या अभी किसी का लड़का नहीं चुराया गया? क्या काबुल में गुलाम नहीं बिकते? क्या एक लम्बे-तगड़े काबुली के लिए एक छोटे बच्चे को उठा ले जाना असम्भव है?" इत्यादि।

मुझे मानना पड़ता कि यह बात नितांत असम्भव हो सो बात नहीं, परंतु भरोसे के काबिल नहीं। भरोसा करने की शक्ति सब में समान नहीं होती, अतः मिनी की मां के मन में भय ही रह गया, परंतु केवल इसीलिए बिना किसी दोष के रहमत को अपने घर में आने से मना न कर सका।

हर वर्ष रहमत माघ मास में लगभग अपने देश लौट जाता है। इस समय वह अपने व्यापारियों से रुपया-पैसा वसूल करने में तल्लीन रहता है। उसे घर-घर, दुकान-दुकान घूमना पड़ता है, लेकिन फिर भी मिनी से उसकी भेंट एक बार अवश्य हो जाती है। देखने में तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के मध्य किसी षड्यंत्र का श्रीगणेश हो रहा हो। जिस दिन वह सवेरे नहीं आ पाता, उस दिन देखूं तो वह संध्या को हाजिर है। अंधेरे में घर के कोने में उस ढीले-ढाले जामा-पाजामा पहने, झोली वाले लम्बे-तगड़े आदमी को देखकर सचमुच ही मन में अचानक भय-सा पैदा हो जाता है।

लेकिन, जब देखता हूं कि मिनी 'ओ काबुल वाला' पुकारते हुए हंसती-हंसती दौड़ी आती है और दो भिन्न-भिन्न आयु के असम मित्रों में वही पुराना हास-परिहास चलने लगता है, तब मेरा सारा हृदय खुशी से नाच उठता है।

एक दिन सवेरे मैं अपने छोटे कमरे में बैठा हुआ नई पुस्तक के प्रूफ देख रहा था। जाड़ा विदा होने से पूर्व, आज दो-तीन दिन से खूब जोर से अपना प्रकोप दिखा रहा है। जिधर देखो, उधर इस जाड़े की ही चर्चा है। ऐसे जाड़े-पाले में खिड़की में से सवेरे की धूप मेज के नीचे मेरे पैरों पर आ पड़ी। उसकी गर्मी मुझे अच्छी प्रतीत होने लगी। लगभग आठ बजे का समय होगा। सिर से मफलर लपेटे ऊषा चरण सवेरे की सैर करके घर की और लौट रहे थे। ठीक उसी समय राह में एक बड़े जोर का शोर सुनाई दिया।

देखूं तो अपने उस रहमत को दो सिपाही बांधे लिए जा रहे हैं। उनके पीछे बहुत से तमाशाई बच्चों का झुंड चला आ रहा है। रहमत के ढीले-ढाले कुरते खून के दाग हैं और एक सिपाही के हाथ में खून से लथपथ छुरा। मैंने द्वार से बाहर निकलकर सिपाही को रोक लिया और पूछा—"क्या बात है?"

कुछ सिपाही से और कुछ रहमत से सुना कि हमारे एक पड़ोसी ने रहमत से रामपुरी चादर खरीदी थी। उसके कुछ रुपए उसकी ओर बाकी थे, जिन्हें देने से

उसने साफ इंकार कर दिया। बस इसी पर दोनों में बात बढ़ गई और रहमत ने छुरा निकालकर घोंप दिया।

रहमत उस झूठे बेईमान आदमी के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अपशब्द सुना रहा था। इतने में 'काबुल वाला! ओ काबुल वाला!' पुकारती हुई मिनी घर से निकल आई।

रहमत का चेहरा क्षण-भर में कौतुक हास्य से चमक उठा। उसके कंधे पर आज झोली नहीं थी, अतः झोली के बारे में दोनों मित्रों की अभ्यस्त आलोचना न चल सकी। मिनी ने आते ही उससे पूछा—"तुम ससुराल जाओगे?"

रहमत ने प्रफुल्लित मन से कहा—"हां, वहीं तो जा रहा हूं।"

रहमत ताड़ गया कि उसका यह जवाब मिनी के चेहरे पर हंसी न ला सकेगा और तब उसने हाथ दिखाकर कहा—"ससुर को मारता, पर क्या करूं, हाथ बंधे हुए हैं।"

छुरा चलाने के जुर्म में रहमत को कई वर्ष का कारावास मिला।

रहमत का ध्यान धीरे-धीरे मन से बिल्कुल उतर गया। हम लोग अब अपने घर में बैठकर सदा के अभ्यस्त होने के कारण, नित्य के काम-धंधों में उलझे हुए दिन बिता रहे थे, तभी एक स्वाधीन पर्वतों पर घूमने वाला इंसान कारागार की प्राचीरों के अंदर कैसे वर्ष पर वर्ष काट रहा होगा, यह बात हमारे मन में कभी उठी ही नहीं।

और चंचल मिनी का आचरण तो और भी लज्जाप्रद था। यह बात उसके पिता को भी माननी पड़ेगी। उसने सहज ही अपने पुराने मित्र को भूलकर पहले तो नबी सईस के साथ मित्रता जोड़ी, फिर क्रमशः जैसे-जैसे उसकी वयोवृद्धि होने लगी, वैसे-वैसे सखा के बदले एक के बाद एक उसकी सखियां जुटने लगीं और तो क्या, अब वह अपने बाबूजी के लिखने के कमरे में भी दिखाई नहीं देती। मेरा तो एक तरह से उसके साथ नाता ही टूट गया है।

कितने ही वर्ष बीत गए? वर्षों बाद आज फिर शरद् ऋतु आई है। मिनी की सगाई की बात पक्की हो गई। पूजा की छुट्टियों में उसका विवाह हो जाएगा। कैलाशवासिनी के साथ-साथ अबकी बार हमारे घर की आनंदमयी मिनी भी मां-बाप के घर में अंधेरा करके ससुराल चली जाएगी।

सवेरे दिवाकर बड़ी सज-धज के साथ निकले। वर्षों के बाद शरद् ऋतु की यह नई धवल धूप सोने में सुहागे का काम दे रही है। कोलकाता की संकरी गलियों से परस्पर सटे हुए पुराने ईंटझर गंदे घरों के ऊपर भी इस धूप की आभा ने इस प्रकार का अनोखा सौंदर्य बिखेर दिया है।

हमारे घर पर दिवाकर के आगमन से पूर्व ही शहनाई बज रही है। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे यह मेरे हृदय की धड़कनों में से रो-रोकर बज रही हो। उसकी करुण भैरवी रागिनी मानो मेरी विच्छेद पीड़ा को जाड़े की धूप के साथ सारे ब्रह्मांड में फैला रही है। मेरी मिनी का आज विवाह है।

सवेरे से घर बवंडर बना हुआ है। हर समय आने-जाने वालों का तांता बंधा हुआ है। आंगन में बांसों का मण्डप बनाया जा रहा है। हरेक कमरे और बरामदे में झाड़-फानूस लटकाए जा रहे हैं और उनकी टक्-टक् की आवाज मेरे कमरे में आ रही है। 'चलो रे!', 'जल्दी करो!', 'इधर आओ!' की तो कोई गिनती ही नहीं है।

मैं अपने लिखने-पढ़ने के कमरे में बैठा हुआ हिसाब लिख रहा था। इतने में रहमत आया और अभिवादन करके खड़ा हो गया।

पहले तो मैं उसे पहचान न सका। उसके पास न तो झोली थी और न पहले जैसे लम्बे-लम्बे बाल और न चेहरे पर पहले जैसी दिव्य ज्योति ही थी। अंत में उसकी मुस्कान देखकर पहचान सका कि वह रहमत है।

"क्यों रहमत, कब आए?" मैंने पूछा।

"कल शाम को जेल से छूटा हूं।" उसने कहा।

सुनते ही उसके शब्द मेरे कानों में खट से बज उठे। किसी खूनी को अपनी आंखों से मैंने कभी नहीं देखा था। उसे देखकर मेरा सारा मन एकाएक सिकुड़-सा गया! मेरी यही इच्छा होने लगी कि आज के इस शुभ दिन में वह इंसान यहां से टल जाए तो अच्छा हो।

मैंने उससे कहा—"आज हमारे घर में कुछ आवश्यक काम है, सो आज मैं उसमें लगा हुआ हूं। आज तुम जाओ, फिर आना।"

मेरी बात सुनकर वह उसी क्षण जाने को तैयार हो गया, परंतु द्वार के पास आकर कुछ इधर-उधर देखकर बोला—"क्या, बच्ची को तनिक नहीं देख सकता?"

शायद उसे यही विश्वास था कि मिनी अब तक वैसी ही बच्ची बनी हुई है। उसने सोचा हो कि मिनी अब भी पहले की तरह 'काबुल वाला! ओ काबुल वाला!' पुकारती हुई दौड़ी चली आएगी। उन दोनों के पहले हास-परिहास में किसी प्रकार की रुकावट न होगी! यहां तक कि पहले की मित्रता की याद करके वह एक पेटी अंगूर और एक कागज के दोने में थोड़ी-सी किशमिश और बादाम; शायद अपने देश के किसी आदमी से मांग-तांगकर लेता आया था? उसकी पहले की मैली-कुचैली झोली आज उसके पास न थी।

मैंने कहा—"आज घर में बहुत काम है। सो किसी से भेंट न हो सकेगी।"

मेरा उत्तर सुनकर वह कुछ उदास-सा हो गया। उसी मुद्रा में उसने एक बार मेरे मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देखा। फिर अभिवादन करके दरवाजे के बाहर निकल गया।

मेरे हृदय में न जाने कैसी एक वेदना-सी उठी। मैं सोच ही रहा था कि उसे बुलाऊं, इतने में देखा कि वह स्वयं ही आ रहा है।

वह पास आकर बोला—"ये अंगूर और कुछ किशमिश, बादाम बच्ची के लिए लाया था, उसको दे दीजिएगा।"

मैंने उसके हाथ से सामान लेकर पैसे देने चाहे, लेकिन उसने मेरे हाथ को थामते हुए कहा—"आपकी बहुत मेहरबानी बाबू साहब! हमेशा याद रहेगी, पिसा रहने दीजिए।" थोड़ी देर रुककर वह फिर बोला—"बाबू साहब! आपकी जैसी मेरी भी देश में एक बच्ची है। मैं उसकी याद करके आपकी बच्ची के लिए थोड़ी-सी मेवा हाथ में ले आया करता हूं। मैं यहां सौदा बेचने नहीं आता।"

कहते हुए उसने ढीले-ढाले कुरते के अंदर हाथ ड़ालकर छाती के पास से एक मैला-कुचैला मुड़ा हुआ कागज का टुकड़ा निकाला और बड़े जतन से उसकी चारों तह खोलकर दोनों हाथों से उसे फैलाकर मेरी मेज पर रख दिया।

देखा कि कागज के उस टुकड़े पर एक नन्हें से हाथ के छोटे-से पंजे की छाप है। फोटो नहीं, तेल चित्र नहीं, हाथ में थोड़ी-सी कालिख लगाकर, कागज के ऊपर उसी का निशान ले लिया गया है। अपनी बेटी के इस स्मृति-पत्र को छाती से लगाकर, रहमत हर वर्ष कोलकाता की गली-कूचों में सौदा बेचने के लिए आता है और तब वह कालिख चित्र मानो उसकी बच्ची के हाथ का कोमल स्पर्श, उसके बिछड़े हुए विशाल वक्षःस्थल में अमृत उड़ेलता रहता है।

देखकर मेरी आंखें भर आईं और फिर मैं इस बात को बिल्कुल ही भूल गया कि वह एक मामूली काबुली मेवा वाला है, मैं एक उच्चवंश का रईस हूं। फिर मुझे ऐसा लगने लगा कि जो वह है, वही मैं हूं। वह भी एक बाप है और मैं भी। उसकी पर्वतवासिनी छोटी बच्ची की निशानी मेरी ही मिनी की याद दिलाती है। मैंने तत्काल ही मिनी को बाहर बुलवाया, हालांकि इस पर अंदर घर में आपत्ति की गई, परंतु मैंने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। विवाह के वस्त्रों और अलंकारों में लिपटी हुई बेचारी मिनी मारे लज्जा के सिकुड़ी हुई-सी मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

उस अवस्था में देखकर रहमत काबुल पहले तो सकपका गया। उससे पहले

जैसी बातचीत न करते बना। बाद में हंसते हुए बोला—"लल्ली! सास के घर जा रही है क्या?"

मिनी अब सास का अर्थ समझने लगी थी, अतः अब उससे पहले की तरह उत्तर देते न बना। रहमत की बात सुनकर मारे लज्जा के उसके कपोल लाल-सुर्ख हो उठे। उसने मुंह को फेर लिया। मुझे उस दिन की याद आई, जब रहमत के साथ मिनी का प्रथम परिचय हुआ था। मन में एक पीड़ा की लहर दौड़ गई।

मिनी के चले जाने के बाद, एक गहरी सांस लेकर रहमत फर्श पर बैठ गया। शायद उसकी समझ में यह बात एकाएक साफ हो गई कि उसकी बेटी भी इतने दिनों में बड़ी हो गई होगी और उसके साथ भी उसे अब फिर से नई जान-पहचान करनी पड़ेगी। संभवतः वह उसे पहले जैसी नहीं पाएगा। इन आठ वर्षों में उसका क्या हुआ होगा, कौन जाने? सवेरे के समय शरद की स्निग्ध सूर्य किरणों में शहनाई बजने लगी और रहमत कोलकाता की एक गली के भीतर बैठा हुआ अफगानिस्तान के मेरु-पर्वत का दृश्य देखने लगा।

मैंने एक नोट निकालकर उसके हाथ में दिया और कहा—"रहमत! तुम देश चले जाओ, अपनी लड़की के पास। तुम दोनों के मिलन-सुख से मेरी मिनी सुख पाएगी।"

रहमत को रुपए देने के बाद विवाह के हिसाब में से मुझे उत्सव-समारोह के दो-एक अंग छांटकर काट देने पड़े। जैसी मन में थी, वैसी रोशनी नहीं करा सका। अंग्रेजी बाजा भी नहीं आया। घर में औरतें बड़ी बिगड़ने लगीं। सब कुछ हुआ, फिर भी मेरा विचार है कि आज एक अपूर्व ज्योत्स्ना से हमारा शुभ समारोह उज्ज्वल हो उठा।

# खोया हुआ मोती

मेरी नौका ने स्नान-घाट की टूटी-फूटी सीढ़ियों के पास लंगर डाला। सूर्यास्त हो चुका था। नाविक नौका के तख्ते पर ही मगरिब (सूर्यास्त) की नमाज अदा करने लगा। प्रत्येक सजदे के पश्चात उसकी काली छाया सिंदूरी आकाश के नीचे एक चमक के समान खिंच जाती।

नदी के किनारे एक जीर्ण-शीर्ण इमारत खड़ी थी। जिसका छज्जा इस प्रकार झुका हुआ था कि उसके गिर पड़ने की हर घड़ी भारी आशंका बनी रहती थी। उसके द्वारों और खिड़कियों के किवाड़ बहुत पुराने और ढीले हो चुके थे। चारों ओर शून्यता छाई हुई थी। उस शून्य वातावरण में अचानक एक मनुष्य की आवाज मेरे कानों में सुनाई पड़ी और मैं कांप उठा।

"'आप कहां से आ रहे हैं?"

मैंने गर्दन घुमाकर देखा तो एक पीले, लम्बे और वृद्ध मनुष्य की शक्ल दिखाई पड़ी, जिसकी हड्डियां निकली हुई थीं। दुर्भाग्य के लक्षण सिर से पैर तक प्रकट हो रहे थे। सिल्क का मैला कोट और उसके नीचे एक मैली-सी धोती बांधे हुए वह मुझसे दो-चार सीढ़ियां ऊपर खड़ा था। उसका निर्बल शरीर, उतरा हुआ मुख और लड़खड़ाते हुए कदम बता रहे थे कि उस क्षुधा-पीड़ित मनुष्य को शुद्ध वायु से अधिक भोजन की आवश्यकता है।

"मैं रांची से आ रहा हूं।"

यह सुनकर वह मेरे बराबर में उसी सीढ़ी पर आ बैठा।

"और आपका काम?"

"व्यापार करता हूं।"

"काहे का?"

"इमारती लकड़ी, रेशम और त्रिफला का।"

"आपका नाम क्या है?"

एक क्षण सोचने के बाद मैंने उसे अपना एक बनावटी नाम बता दिया, किंतु वह अब मुझे एकटक देख रहा था।

"परंतु आपका यहां आना कैसे हुआ? केवल मनोरंजन के लिए या वायु-परिवर्तन के लिए?"

"वायु-परिवर्तन के लिए।" मैंने कहा।

"यह भी खूब कही। मैं लगभग छः वर्ष से प्रतिदिन यहां की ताजी वायु पेट भरकर खा रहा हूं और साथ ही पंद्रह ग्रेन कुनैन भी, परंतु अंतर कुछ नहीं हुआ। कोई लाभ दिखाई नहीं देता।"

"लेकिन रांची और यहां की जलवायु में तो जमीन-आसमान का अंतर है।"

"इसमें संदेह नहीं, लेकिन आप यहां ठहरे किस स्थान पर हैं? क्या इसी मकान में?"

संभवतः उस व्यक्ति को संदेह हो गया था कि मुझे उसके किसी गड़े हुए धन का कहीं से सुराग मिल गया है और मैं उस स्थान पर ठहरने के लिए नहीं, बल्कि उसके गड़े हुए धन पर अपना अधिकार जमाने आया हूं। मकान की भलाई-बुराई के संबंध में एक शब्द तक कहे बिना उसने अपने उस मकान के स्वामी की पंद्रह साल पूर्व की एक गाथा सुनानी आरम्भ कर दी—

उसकी गंजी खोपड़ी में गहरी और चमकदार काली आंखें मुझे कॉलरिज के पुराने नाविक का स्मरण करा रही थीं। वह एक स्थानीय स्कूल में अध्यापक था।

नाविक ने नमाज से निवृत्त होकर रोटी बनानी आरम्भ कर दी। सूर्यास्त होने के समय आकाश के सिंदूरी रंग पर अधिकार जमाने वाली अंधेरी में वह खण्डहर भवन एक विचित्र-सा भयावह दृश्य प्रदर्शित कर रहा था।

मेरे पास सीढ़ी पर बैठे हुए उस दुबले और लम्बे स्कूल-मास्टर ने कहा—"मेरे इस गांव में आने से लगभग दस वर्ष पहले एक व्यक्ति फणीभूषण सहाय इस मकान में रहता था। उसका चाचा दुर्गामोहन बिना अपने किसी उत्तराधिकारी के मर गया। जिसकी सारी सम्पत्ति और विस्तृत व्यापार का अकेला वही मालिक था।

पाश्चात्य शिक्षा और नई सभ्यता क़ा भूत फणीभूषण पर सवार था। वह कॉलेज में कई वर्षों तक शिक्षा प्राप्त कर चुका था। वह अंग्रेजों की भांति कोठी में जूते पहनकर घूमा करता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये लोग उनके साथ कोई व्यापारिक रियायत देने के रवादार न थे। वे भली-भांति जानते थे कि फणीभूषण आखिरकार नए बंगाल की वायु में सांस ले रहा है।

इसके अतिरिक्त एक और बला उसके सिर पर सवार थी, अर्थात उसकी पत्नी परम सुंदरी थी। यह सुंदर बला और पाश्चात्य शिक्षा दोनों उसके पीछे ऐसी पड़ी थीं कि तोबा भली! खर्च सीमा से बाहर। तनिक शरीर गर्म हुआ और सरकारी डॉक्टर खट-खट करते आ पहुंचे।

विवाह संभवतः आपका भी हो चुका है। आपको भी वास्तव में यह अनुभव

हो गया है कि स्त्री कठोर स्वभाव वाले पति को सर्वदा पसंद करती है। वह अभागा व्यक्ति जो अपनी पत्नी के प्रेम से वंचित हो, यह न समझ बैठे कि वह इस सम्पत्ति से माला-माल नहीं या सौंदर्य से वंचित है। विश्वास कीजिए वह अपनी सीमा से अधिक कोमल प्रकृति और प्रेम के कारण इसी दुर्भाग्य में फंसा हुआ है। मैंने इस विषय में खूब सोचा है और इस तथ्य पर पहुंचा हूं और यह है भी ठीक। पूछिए क्यों? लीजिए इस प्रश्न का संक्षिप्त और विस्तृत उत्तर इस प्रकार है।

यह तो आप अवश्य मानेंगे कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक कि उसे अपने जन्म-जात विचार और स्वाभाविक योग्यताओं को प्रकट करने के लिए एक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त न हो। हिरन को आपने देखा है। वह अपने सींगों को वृक्ष से रगड़कर आनंद प्राप्त करता है, नर्म और नाजुक केले के खम्भे से नहीं। सृष्टि के आरम्भ से ही नारी जाति इस जंगली और कठोर-स्वभाव पुरुष को जीतने के लिए विशेष ढंग सीखती चली आ रही है। यदि उसे पहले से ही आज्ञाकारी पति मिल जाए तो उसके वे आकर्षक हथकंडे, जो उसको मां और दादियों से बपौती के रूप में मिले हैं और लम्बे समय से निरंतर चलते रहने के कारण सीमा से अधिक सत्य भी सिद्ध हुए हैं, न केवल बेकार रह जाते हैं, बल्कि स्त्री को भार-स्वरूप मालूम होने लगते हैं।

स्त्री अपने आकर्षक सौंदर्य के बल पर पुरुष का प्रेम और उसकी आज्ञाकारिता प्राप्त करना चाहती है, किंतु जो पति स्वयं ही उसके सौंदर्य के सामने झुक जाए, वह वास्तव में दुर्भाग्यशाली होता है और उससे अधिक दुर्भाग्यशाली होती है उसकी पत्नी।

वर्तमान सभ्यता ने ईश्वर-प्रदत्त उपहार अर्थात 'पुरुष की सुंदर कठोरता' उससे छीन ली है। पुरुष ने अपनी निर्बलता से स्त्री के दाम्पत्य-बंधन को बड़ी सीमा तक ढीला कर दिया है। मेरी इस कहानी का अभागा फणीभूषण भी इस नवीन सभ्यता की छलना से छला हुआ था। यही कारण था कि न तो वह अपने व्यापार में सफल था और न गृहस्थ जीवन से संतुष्ट। यदि एक ओर वह अपने व्यापार में सफल था और लाभ से बेखबर था तो दूसरी ओर अपनी पत्नी के पतित्व-अधिकार से वंचित।

फणीभूषण की पत्नी मनीमलिका को प्रेम और विलाप-सामग्री बिना मांगे मिली थी। उसे सुंदर और बहुमूल्य साड़ियों के लिए अनुनय-विनय तो क्या पति से कहने की आवश्यकता भी न होती थी। सोने के आभूषणों के लिए उसे झुकना नहीं पड़ता था, इसलिए उसके स्त्रियोचित स्वभाव को आज्ञा देने वाले स्वर का जीवन

में कभी आभास नहीं हुआ था। यही कारण था कि वह अपनी प्रेममयी भावनाओं में आवेश की स्थिति उत्पन्न नहीं कर पाती थी। उसके कान—'लो स्वीकार करो' के मधुर शब्दों से परिचित थे, किंतु उसके होंठ 'लाओ' और 'दो' से सर्वथा अपरिचित। उसके सीधे स्वभाव का पति इस मिथ्या-भावना के पीछे हाथ-पैर मारे जा रहा था। परिणाम यह हुआ कि उसकी पत्नी उसे ऐसी मशीन समझने लगी, जो बिना चलाए ही चलती है। स्वयं ही बिना कुछ कष्ट किए सुंदर साड़ियां और बहुमूल्य आभूषण बनाकर उसके कदमों पर डालती रहती है। उसके पुर्जे इतने शक्तिशाली और टिकाऊ हैं कि कभी भी उनको तेल देने की आवश्यकता नहीं होती।

फणीभूषण की जन्मभूमि और रहने का स्थान पास ही एक देहात का गांव था, किंतु उसके चाचा के व्यापार का मुख्य स्थान यही शहर था। इसी कारण उसकी आयु का अधिकांश भाग यहीं व्यतीत हुआ था। वैसे मां मर चुकी थी, किंतु मौसी और मामियां आदि ईश्वर की कृपा से जीवित थीं। विवाह के बाद ही वह फौरन मनीमलिका को अपने साथ ले आया। उसने विवाह अपने सुख के लिए किया था, न कि अपने संबंधियों की सेवा कराने के लिए।

पत्नी और उसके अधिकारों में जमीन-आसमान का अंतर है। पत्नी को प्राप्त कर लेना और फिर उसकी देख-भाल करना, उसको अपना बनाने के लिए काफी नहीं हुआ करता।

मनीमलिका सोसाइटी की अधिक भक्त न थी, इसलिए व्यर्थ का खर्च भी नहीं करती थी, बल्कि इसके प्रतिकूल बड़ी सावधानी रखने वाली थी। जो उपहार फणीभूषण उसको एक बार ला देता, फिर क्या मजाल कि उसको हवा भी लग जाए। वह सावधानी से सब रख दिया जाता। कभी ऐसा नहीं देखा गया कि किसी पड़ोसन को उसने भोजन पर बुलाया हो। वह उपहार या भेंट लेने-देने के पक्ष में भी न थी।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि चौबीस साल की आयु में भी मनीमलिका सोलह वर्ष की सुंदर युवती दिखाई पड़ती थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो उसका रूप-लावण्य केवल स्थायी ही नहीं, बल्कि चिरस्थायी रहने वाला है। मनीमलिका के पार्श्व में हृदय न था बर्फ का टुकड़ा था, जिस पर प्रेम की जरा भी तपिश नहीं पहुंची थी। फिर वह पिघलता क्यों और उसका यौवन ढलता किस प्रकार?

जो हमेशा वृक्ष पत्तों से लदा रहता है, प्रायः फल से वंचित ही रहता है। मनीमलिका का सौंदर्य भी फलहीन था। वह संतानहीन थी। रख-रखाव और

व्यक्तिगत देख-रेख करती भी तो काहे की? उसका सारा ध्यान अपने आभूषणों पर ही केंद्रित था। संतान होती तो वसंत की मीठी-मीठी धूप की भांति उसके बर्फ के हृदय को पिघलाती और वह निर्मल जल उसके दाम्पत्य-जीवन के मुरझाए हुए वृक्ष को हरा कर देता।

मनीमलिका गृहस्थी के काम-काज और परिश्रम से भी नहीं कतराती थी। जो काम वह स्वयं कर सकती थी उसका पारिश्रमिक देना उसे खलता था। उसे न दूसरों के कष्ट का ध्यान था और न नाते-रिश्तेदारों की चिंता। उसको अपने काम-से-काम था। इस शांत जीवन के कारण वह स्वस्थ और सुखी थी, न कभी चिंता होती थी, न कोई कष्ट।

प्रायः पति इसे संतोष तो क्या सौभाग्य समझेंगे? क्योंकि जो पत्नी हर समय फरमाइशें लेकर पति की छाती पर चढ़ी रहे, वह सारे गृहस्थ के लिए एक रोग सिद्ध होती है।

कम-से-कम मेरी तो यही सम्मति है कि सीमा से अधिक बढ़ा हुआ प्रेम पत्नी के लिए संभवतः गौरव की बात हो, किंतु पति के लिए एक विपत्ति से कम... सोचिए तो सही कि क्या पुरुष का यही काम रह गया है कि वह हर समय ही तोलता-जोखता रहे कि उसकी पत्नी उसे कितना चाहती है। मेरा तो यह दृष्टिकोण है कि गृहस्थी का जीवन उस समय अच्छा व्यतीत होता है, जब पति अपना काम करे और पत्नी अपना।

स्त्री का सौंदर्य और प्रेम यानी त्रिया-चरित्र, पुरुष की बुद्धि से परे की चीज है, किंतु स्त्री पुरुष के प्रेम के उतार-चढ़ाव और उसके न्यूनाधिक अंतर को गंभीर दृष्टि से देखती है। वह शब्दों के लहजे और छिपी हुई बात के अर्थ को तुरंत अलग कर लेती है। इसका कारण केवल यह है कि जीवन के व्यापार में स्त्री की पूंजी ले-देकर केवल पुरुष का प्रेम है। यही उसके जीवन का एकमात्र सहारा है। यदि वह पुरुष की रुचि के वायु के प्रवाह को अपनी जीवन-नैया के वितान से स्पर्श करने में सफल हो जाए तो यकीनन नैया अभिप्राय के तट तक पहुंच जाती है। इसीलिए प्रेम का कल्पना-यंत्र पुरुष में नहीं, स्त्री के हृदय में लगाया गया है।

प्रकृति ने पुरुष और स्त्री की रुचि में स्पष्ट रूप से अंतर रखा है, किंतु पाश्चात्य सभ्यता इस स्त्री-पुरुष के अंतर को मिटा देने पर तुली हुई है। स्त्री पुरुष बनी जा रही है और पुरुष, स्त्री। स्त्री पुरुष के चरित्र तथा उसके कार्य-क्षेत्र को अपने जीवन की पूंजी और पुरुष स्त्रियोचित चरित्र तथा नारी कर्म-क्षेत्र को अपने जीवन का आनंद समझने लगे हैं, इसलिए यह कठिन हो गया है कि विवाह के समय कोई यह कह सके कि वधू स्त्री है या स्त्रीनुमा पुरुष। इसी प्रकार स्त्री

अनुमान लगा सकती है कि जिसके पल्ले वह बंध रही है वह पुरुष है या पुरुषनुमा स्त्री, इसलिए कि अंतर केवल हृदय का है, पर क्या जाने कि पुरुष का हृदय मरदाना है या जनाना?

मैं बहुत देर से आपको शुष्क बातें सुना रहा हूं, लेकिन किसी सीमा तक क्षमा के योग्य भी हूं। मैं अपनों से दूर निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहा हूं। मेरी दशा उस तमाशा देखने वाले दर्शक के समान है, जो दूर से गृहस्थ-जीवन का तमाशा देख रहा हो और वह उसके गुणों से लाभ उठाकर केवल उसके लिए कुछ सोच सकता हो। इसीलिए दाम्पत्य-जीवन पर मेरे विचार अत्यन्त गम्भीर हैं। मैं अपने शिष्यों के सम्मुख तो वह विचार प्रकट कर नहीं सकता। इसी कारण आपके सामने प्रकट करके अपने हृदय को हल्का कर रहा हूं। आप अवकाश के समय इन पर विचार करें।

सारांश यह है कि यद्यपि गृहस्थ-जीवन में प्रकट रूप में कोई कष्ट फणीभूषण को नहीं था। समय पर भोजन मिल जाता, घर का प्रबंध सुचारु रूप से चल रहा था, किंतु फिर भी एक प्रकार की विकलता और अविश्वास उसके हृदय में समाया हुआ था और वह नहीं समझ पाता था कि वह है क्या? उसकी दशा उस बच्चे के समान थी, जो रो रहा है और नहीं जानता कि उसके हृदय में कोई इच्छा है या नहीं।

अपनी जीवन-संगिनी के हृदय के स्नेह-रिक्त स्थान को वह सुनहरे और मूल्यवान आभूषणों तथा इसी प्रकार के अन्य उपहारों से भर देना चाहता था।

उसका चाचा दुर्गामोहन दूसरी तरह का व्यक्ति था। वह अपनी पत्नी के प्रेम को किसी भी मूल्य पर क्रय करने के पक्ष में नहीं था और न ही वह प्रेम के विषय में चिड़चिड़े स्वभाव का था। फिर भी अपनी जीवन-संगिनी के प्रेम की प्राप्ति के लिए भाग्यशाली था। जिस प्रकार एक सफल दुकानदार को कहीं तक बे-लिहाज होना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार एक सफल पति बनने के लिए पुरुष को कहीं तक कठोर स्वभाव का बन जाना भी बहुत जरूरी है। सानुरोध आपको मैं यह सीख देता हूं।"

ठीक उसी समय गीदड़ों की चीख-पुकार जंगल में सुनाई दी। ऐसा ज्ञात होता था कि या तो वे उस स्कूल के अध्यापक के दाम्पत्य-जीवन के मनोविज्ञान पर घिनौना परिहास कर रहे थे या फणीभूषण की कहानी के प्रवाह को कुछ क्षणों के लिए उस चीख-पुकार से रोक देना चाहते थे। फिर भी बहुत जल्दी वह चीख-पुकार रुक गई और पहले से भी गहन अंधेरी और शून्यता वायुमण्डल पर छा गई, किंतु स्कूल के अध्यापक ने पुनः कथा शुरू की—

"अचानक फणीभूषण के बड़े व्यवसाय में शिक्षाप्रद अवनति दृष्टिगोचर हुई। यह क्यो हुआ? इसका उत्तर मेरी बुद्धि से परे है। संक्षिप्त में यह कि कुसमय ने उसके लिए बाजार में साख रखना कठिन कर दिया। यदि किसी प्रकार कुछ दिनों के लिए वह एक बड़ी पूंजी प्राप्त करके मण्डियों में फैला सकता तो सम्भव था कि बाजार से माल को न खरीदने के तूफान से बच निकलता, किंतु इतनी बड़ी रकम का तुरंत प्रबंध करना, खाला का घर न था। यदि स्थानीय साहूकारों से कर्ज मांगता तो अनेक प्रकार की अफवाहें फैल जातीं और उसकी साख को असहनीय हानि पहुंचती। यदि पत्र-व्यवहार से भुगतान का ढंग करता तो रुक्का या परचे के बिना संभव न था और इससे उसकी ख्याति को बहुत बड़ा आघात पहुंचने की संभावना थी। केवल एक युक्ति थी कि पत्नी के आभूषणों पर रुपया प्राप्त किया जाए और यह विचार उसके हृदय में दृढ़ हो गया।

फणीभूषण मनीमलिका के पास गया, परंतु वह ऐसा पति न था कि पत्नी से स्पष्ट और सबलता से कह सके। दुर्भाग्यवश उसे अपनी पत्नी से इतना घनिष्ट प्रेम था, जैसा कि उपन्यास के किसी नायक को नायिका से हो सकता है।

सूर्य का आकर्षण पृथ्वी पर बहुत अधिक है, किंतु अधिक प्रभावशाली नहीं। यही दशा फणीभूषण के प्रेम की थी। उस प्रेम का मनीमलिका के हृदय पर कोई प्रभाव न था, किंतु मरता क्या न करता, आर्थिक कठिनाई की चर्चा, प्रोनोट, कर्जे का कागज, बाजार के उतार-चढ़ाव की दशा, इन सब बातों को कम्पित और अस्वाभाविक स्वर में फणीभूषण ने अपनी पत्नी को बताया। झूठे मान, असत्य विचार और भावावेश में साधारण-सी समस्या जटिल बन गई। अस्पष्ट शब्दों में विषय की गंभीरता बताकर डरते-डरते अभागे फणीभूषण ने कहा—'तुम्हारे आभूषण!'

मनीमलिका ने न 'हां' कही और न 'ना' और न उसके चेहरे से कुछ पता चलता था। उस पर गहरा मौन छाया हुआ था। फणीभूषण के हृदय को गहरा आघात पहुंचा, लेकिन उसने प्रकट न होने दिया। उसमें पुरुषों का-सा वह साहस न था कि प्रत्येक वस्तु का वह प्रतिदिन निरीक्षण करता। उसके इंकार पर उसने किसी प्रकार की चिंता प्रदर्शित नहीं की। वह ऐसे विचारों का व्यक्ति था कि प्रेम के जगत में शक्ति और आधिक्य से काम नहीं चल सकता। पत्नी की स्वीकृति के बिना वह आभूषणों को छूना भी पाप समझता था। इसलिए निराश होकर रुपए की प्राप्ति के लिए युक्तियां सोचता हुआ कोलकाता (कलकत्ता) चला गया।

पत्नी अपने पति को प्रायः जानती है। उसकी नस-नस से परिचित होती है, पर पति अपनी पत्नी के चरित्र का इतना गम्भीर अध्ययन नहीं कर सकता। यदि

पति कुछ गम्भीर व्यक्ति हो तो पत्नी के चरित्र के कुछ भाग उसकी तीक्ष्ण दृष्टि से बचाकर जान लेता है। संभवतः यह सत्य है कि मनीमलिका ने फणीभूषण को अच्छी तरह न समझा। एक पाश्चात्य व्यक्ति का व्यक्तित्व मूर्ख स्त्री के अंधविश्वास जैसे जीवन और उसकी समझ-बूझ से प्रायः ऊंचा होता है। वह स्वयं स्त्री की भांति एक रोमांचकारी व्यक्तित्व बनकर रह जाता है और इसी कारण पुरुष की उन दशाओं में से किसी में भी फणीभूषण को पूरी तरह शामिल नहीं किया जा सकता।

'मूर्ख...अंधा...जंगली।'

मनीमलिका ने अपने बड़े सलाहकार मधुसूदन को बुलाया। वह दूर के रिश्ते से चचेरा भाई था और फणीभूषण के व्यापार में एक आसामी की देख-रेख पर नियुक्त था। योग्यता के कारण नहीं, बल्कि रिश्तेदारी के जोर पर वह उस आसामी पर अधिकार जमाए हुए था। काम की चतुराई के कारण नहीं, बल्कि रिश्तेदारी की धौंस में हर माह वेतन से भी अधिक रकम ले उड़ता था। मनीमलिका ने सारी राम कहानी उसके सामने वर्णन की और अंत में पूछा—'क्या करूं? नेक सलाह दो।'

मधुसूदन ने बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता के ढंग से सिर हिलाकर कहा—'मेरा माथा ठनकता है, इस मामले में कुशल दिखाई नहीं देती।'

'सांसारिक बुद्धिहीन व्यक्तियों को हर कार्य में संदेह ही दिखाई दिया करता है। उनको किसी काम में कुशल नहीं दिखाई देती।'

'फणीभूषण को रुपया तो मिलने से रहा। अंत में तुम्हें आभूषणों से भी हाथ धोने पड़ेंगे।'

सांसारिक समस्याओं और पुरुष तथा नारी के संबंध में जो मनीमलिका के अपने व्यक्तिगत विचार थे, उनके प्रकाश में मधु के निकाले हुए परिणाम का प्रथम भाग संभावित और दूसरा सत्य मालूम होता था। विश्वास उसके हृदय से समाप्त हो चुका था। संतान उसके थी ही नहीं। बाकी रहा पति, वह किसी गिनती में ही नहीं था, अतः उसका पूरा ध्यान अपने आभूषणों पर केंद्रित था। इन्हीं से उसके हृदय की प्रसन्नता थी। ये ही उसको संतान के समान प्रिय थे। संतान को मां से छीन लीजिए, फिर देखिए ममता की क्या दशा होती है। यही दशा मनीमलिका की थी। उसका यह विचार था कि उसके आभूषण पति के मनसूबों की भेंट हो जाएंगे।

'फिर मुझे क्या करना चाहिए?'

'अभी मायके चली जाओ, सारे आभूषण वहां छोड़ आओ।' चालाक मधु ने कहा।

इस प्रकार उसकी हांडी को भी बघार लगता है। यदि सारे नहीं तो कुछ आभूषण मधु को अपने हत्थे चढ़ने की भी आशा थी। मनीमलिका उसी समय सहमत हो गई।

बढ़ते हुए अंधकार से स्कूल के अध्यापक पर भी गंभीरता छा गई थी, किंतु कुछ क्षणों के पश्चात उसने फिर वर्णन आरम्भ किया—

"झुटपुटे के समय जबकि सावन की घटाएं आकाश पर डेरा जमाए हुए थीं, मूसलाधार वर्षा हो रही थी। एक नौका ने रेतीली सीढ़ियों पर लंगर डाला। दूसरे दिन प्रातः घटाटोप अंधेरे में मनीमलिका आई और एक मोटी चादर में सिर से पांव तक लिपटी हुई नौका पर सवार हो गई।

मधु जो रात से उसी नौका में सोया हुआ था, उसकी आहट से जाग गया।

'आभूषणों की संदूकची मुझे दे दो, ताकि सुरक्षित रख लूं।'

'अभी ठहरो जल्दी क्या है? चलो तो सही, आगे देखा जाएगा।'

नौका का लंगर उठा और वह फुंकारती हुई नदी की लहरों से जूझने लगी। मनीमलिका ने सारे आभूषण एक-एक करके पहन लिए थे। संदूक में बंद करके ले जाना असुरक्षित मालूम होता था। मधु हक्का-बक्का रह गया, जब उसने देखा कि मनीमलिका के पास संदूकची नहीं है। उसने इसकी कल्पना भी न की थी कि उसने आभूषणों को अपने प्राणों से लगा रखा है।

चाहे मनीमलिका ने फणीभूषण को न समझा था, लेकिन मधु के चरित्र का एक बहुत ही ठीक अंदाजा लगाया था।

जाने से पहले मधु ने फणीभूषण के एक विश्वासी मुनीम को लिख भेजा था कि मैं मनीमलिका को उसके मायके पहुंचाने जा रहा हूं। यह मुनीम दुनिया का अनुभवी और बड़ी आयु का व्यक्ति था और फणीभूषण के पिता के समय से ही उसके साथ था। उसको मनीमलिका के जाने से बहुत चिंता और संदेह हुआ। उसने अपने मालिक को फौरन लिखा। वफादारी और खैरख्वाही ने उसे प्रेरणा दी और अपने पत्र में अपने मालिक को खूब खरी-खरी सुनाई। पति की लाज और दूरदर्शिता दोनों का यह अर्थ नहीं है कि पत्नी को इस प्रकार स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। मनीमलिका के हृदय के संदेह को फणीभूषण समझ गया। उसे अत्यन्त दुख हुआ। वह इस संबंध में शिकायत का एक शब्द भी जुबान पर न लाया। अपमान और कष्ट सहे, लेकिन उसने मनीमलिका पर कोई दबाव डालना उचित न समझा। फिर भी इतना अविश्वास! वर्षों से वह मेरे एकांत की और सांसारिक साथी रही है। आश्चर्य है कि उसने मुझे तनिक भी न समझा।

इस मौके पर कोई और होता तो क्रोधावेश में न जाने क्या कर बैठता, किंतु

फणीभूषण मौन था और अपना दुख प्रकट करके मनीमलिका को दुखित करना उचित नहीं समझता था।

पुरुष को चाहिए कि वह दावानल की भांति जरा-जरा-सी बात पर भड़क जाए। जिस प्रकार स्त्री सावन के बादलों की भांति बात-बात पर आंसुओं की झड़ी लगा देती है, परंतु अब वह पहले-से दिन कहां?

फणीभूषण ने मनीमलिका को उसकी अनुपस्थिति में बिना सूचना दिए जाने के विषय में कोई डांट-फटकार भरा पत्र नहीं लिखा, बल्कि यह निश्चय कर लिया कि मरते दम तक उसके आभूषणों का नाम तक जुबान पर नहीं लाएगा। रुपए की वसूली में फणीभूषण सफल हो गया। उसके व्यापारिक रास्ते खुल गए। दस दिन के पश्चात वह अपने घर वापस चला गया, इस विचार को लिए हुए कि आभूषण मायके में छोड़कर मनीमलिका घर वापस आ गई होगी।

दस दिन पहले का तुच्छ और असफल प्रश्न-कर्ता जब मस्तानी चाल से घर में कदम रखेगा और पत्नी की दृष्टि उसकी सफलता से दमकते हुए चेहरे पर पड़ेगी तो वह अपने इंकार पर स्वयं लज्जित होगी और अपनी नादानी पर पश्चाताप प्रकट करेगी।

इन विचारों में खोया हुआ फणीभूषण शयन-कक्ष में पहुंचा, परंतु द्वार पर ताला लगा हुआ था। ताला तुड़वाकर अंदर घुसा तो तिजोरी के किवाड़ खुले पड़े थे।

इस आघात से वह लड़खड़ा गया। 'शुभ चिंता और प्रेम' उस समय उसके पास निरर्थक और अस्पष्ट शब्द थे। सोने का पिंजरा, जिसकी प्रत्येक सुनहरी तीली को उसने अपने प्राण और आन का मूल्य देकर प्राप्त किया था, टूट चुका था और खाली पड़ा था। वह अब दिवालिया था और सिवाय गहरी उसांस, आंसू और हृदय की टीस के अतिरिक्त उसके पास कुछ न था।

मनीमलिका को बुलाने का ध्यान भी उसके हृदय में न आया। उसने यह निश्चय कर लिया कि वह अब चाहे आए या न आए, किंतु वृद्ध मुनीम इस निश्चय के विरुद्ध था। वह अनुरोध कर रहा था कि कम-से-कम कुशलक्षेम अवश्य मंगानी चाहिए।

इतनी देर का कोई कारण समझ में नहीं आता। उसके अनुरोध से विवश होकर मनीमलिका के मायके आदमी भेजा गया, किंतु वह यह अशुभ समाचार लाया कि न यहां मनीमलिका आई है न मधु।

यह सुना तो पांव तले से जमीन निकल गई। नदी-पार आदमी दौड़ाए गए। खोज और प्रयत्न में किसी प्रकार की कमी न रखी गई, परंतु पता न चलना था,

न चला। यह भी मालूम न हो सका कि नौका किस दिशा में गई और नौका का नाविक कौन था।

निराश फणीभूषण हृदय मसोसकर बैठ गया।

कृष्ण-जन्माष्टमी की शाम थी। वर्षा हो रही थी। फणीभूषण शयन-कक्ष में अकेला था। गांव में एक व्यक्ति भी बाकी न था। जन्माष्टमी के मेले ने गांव-का-गांव सूना कर दिया था। मेले की चहल-पहल और महाभारत के नाटक के शौक ने बच्चे से लेकर बूढ़े तक को खींच लिया था। शयन-कक्ष की खिड़की का एक किवाड़ बंद था। फणीभूषण दीन-दुनिया से बेखबर बैठा था।

संध्या का झुटपुटा रात्रि के गहन अंधेरे में परिवर्तित हो गया, किंतु इस भयावने अंधेरे, मूसलाधार वर्षा और ठंडी वायु का उसको तनिक भी ध्यान न था। दूर से गाने की मधुर ध्वनि से उसकी श्रवण-शक्ति सर्वथा बेसुध थी।

दीवार पर विष्णु और लक्ष्मी के चित्र टंगे हुए थे। फर्श साफ था और प्रत्येक वस्तु उपयुक्त स्थान पर रखी हुई थी। पलंग के पास एक खूंटी पर एक सुंदर और आकर्षक साड़ी लटकी हुई थी। सिरहाने एक छोटी-सी मेज पर पान का बीड़ा स्वयं मनीमलिका के हाथ का बना हुआ रखा-रखा सूख चुका था।

विभिन्न वस्तुएं सलीके से अपने-अपने स्थान पर रखी हुई थीं। एक ताक में मनीमलिका का प्रिय लैम्प रखा हुआ था, जिसको वह अपने हाथ से रोशन किया करती थी और जो उसकी अंतिम विदाई का स्मरण करा रहा था। मनी की स्मृति में इन सम्पूर्ण वस्तुओं का मौन-रुदन उस कमरे को कामना का शोक-स्थल बनाए हुए था। फणीभूषण का हृदय स्वतः कह रहा था—'प्यारी मनी, आओ और अपने प्राणमय सौंदर्य से इन सब में प्राण फूंक दो।'

कहीं आधी रात के लगभग जाकर बूंदों की तड़तड़ थमी, किंतु फणीभूषण उसी विचार में खोया बैठा था।

अंधेरी रात के असीमित धुंधले वायुमण्डल पर मृत्यु की राजधानी का सिक्का चल रहा था। फणीभूषण की दुखित आत्मा का रुग्ण स्वर इतना पीड़ामय था कि यदि मृत्यु की नींद सोने वाली मनीमलिका भी सुन पाए तो एक बार नेत्र खोल दे और अपने सोने के आभूषण पहने हुए उस अंधेरे में ऐसे प्रकट हो, जैसे कसौटी के कठोर पत्थर पर किंचित सुनहरी रेखा।

अचानक फणीभूषण के कान में किसी के पैरों की-सी आहट सुनाई दी। ऐसा मालूम होता था कि नदी-तट से वह उस घर की ओर वापस आ रही है। नदी

की काली लहरें रात की अंधेरी में मालूम न होती थीं। आशा की प्रसन्नता ने उसे जीवित कर दिया। उसके नेत्र चमक उठे। उसने अंधकार के पर्दे को फाड़ना चाहा, किंतु सब व्यर्थ! जितना अधिक वह नेत्र फाड़कर देखता था, अंधकार के पर्दे और गहन होते जाते थे और यह मालूम होता था कि प्रकृति इस भयावनी अंधेरी में मनुष्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। आवाज समीप-से-समीपतर होती गई। यहां तक कि सीढ़ियों पर चढ़ी और सामने द्वार पर आकर रुक गई। जिस पर ताला लगा हुआ था। द्वारपाल भी मेले में गया था। द्वार पर धीमी-सी खट-खट सुनाई दी। ऐसी जैसे आभूषणों से सुसज्जित स्त्री का हाथ द्वार खटखटा रहा हो। फणीभूषण सहन न कर सका। जीने से उतरकर बरामदे से होता हुआ द्वार पर पहुंचा। ताला बाहर से लगा हुआ था। सम्पूर्ण शक्ति से उसने द्वार हिलाया। शोरगुल से उसका सपना टूटा तो वहां कुछ न था।

वह पसीने में सराबोर था, हाथ-पांव ठंडे पड़े हुए थे। उसका हृदय टिमटिमाते हुए दीपक के अंतिम प्रकाश की भांति जलकर बुझने को तैयार था।

वर्षा की तड़तड़ ध्वनि के सिवाय कुछ भी सुनाई नहीं देता था।

फणीभूषण से यह 'वास्तविकता' किंचित मात्र भी विस्तृत न हुई थी कि उसकी अधूरी इच्छाएं पूरी होते-होते रह गईं।

दूसरी रात को फिर नाटक होने वाला था। नौकर ने आज्ञा चाही तो चेतावनी दे दी कि बाहर का द्वार खुला रहे।

'यह कैसे हो सकता है। विभिन्न स्वभाव के व्यक्ति बाहर से मेले में आए हुए हैं, दुर्घटना का संदेह है।' नौकर ने कहा।

'नहीं, तुम जरूर खुला रखो।'

'तो फिर मैं मेले में नहीं जाऊंगा।'

'तुम अवश्य जाओ।'

नौकर आश्चर्य में था कि आखिर उनका आशय क्या है?

जब संध्या हो गई और चारों ओर अंधकार छा गया तो फणीभूषण उस खिड़की में आ बैठा। आकाश पर गहरा कोहरा छाया हुआ था। घनघोर घटाएं ऐसे तुली खड़ी थीं कि जल-थल एक कर दें। चारों ओर शून्यता का राज था। ऐसा मालूम होता था कि सारे संसार का वायुमण्डल मौन भाव से किसी मधुर ध्वनि को सुनने के लिए अपने कान लगाए हुए है। मेढकों की निरंतर टर्र-टर्र और ग्रामीण कुत्तों की कम्पित ध्वनि भी उस शून्यता में बाधक मालूम न होती थी।

आधी रात के लगभग फिर सम्पूर्ण शोर, चहल-पहल रात्रि के मौन में सोने

लगा। रात ने अपने काले वस्त्रों पर एक और काला आवरण डाल लिया। पहली रात की भांति फणीभूषण को फिर वही आवाज सुनाई दी। उसने नदी की ओर दृष्टि उठाकर भी न देखा। ईश्वर न करे कि कोई अनाधिकार-चेष्टा द्वारा समय से पूर्व ही उसकी आकांक्षाओं का खून कर दे। वह मूर्तिवत बैठा रहा जैसे किसी ने लकड़ी की प्रतिमा को बनाकर सरेश से कुर्सी पर चिपका दिया हो।

पंजों की आहट सुनसान घाट की सीढ़ियों की ओर से आकर मुख्य द्वार में प्रविष्ट हुई और चक्कर वाले जीने की सीढ़ियों पर चढ़कर अंदर के कमरे की ओर बढ़ी। लहरों की प्रतिस्पर्द्धा में आपने नौका को देखा होगा। इसी प्रकार फणीभूषण का हृदय बल्लियों उछलने लगा। वह आवाज बरामदे से होती हुई शयन-कक्ष की ओर आई और ठीक द्वार पर आकर ठहर गई। अब केवल द्वार-प्रवेश करना शेष था।

फणीभूषण की आकांक्षाएं मचल उठीं। संतोष का आंचल हाथ से जाता रहा, वह कुर्सी से उछल पड़ा। एक दुखभरी चीख—'मनी' उसके मुख से निकली, किंतु अफसोस कि उसके पश्चात मेढकों की आवाज और वर्षा की बड़ी-बड़ी बूंदों की तड़तड़ के सिवाय और कुछ न था।

दूसरे दिन मेला छंटने लगा, दुकानें उठनी आरम्भ हो गईं। दर्शक अपने-अपने घरों को वापस जाने लगे। मेले की शोभा समाप्त हो गई।

फणीभूषण ने दिन में व्रत रखा और सब नौकरों को आज्ञा दे दी कि आज रात को कोई भी व्यक्ति यहां न रहे। नौकरों का विचार था कि हमारे मालिक आज किसी विशेष मंत्र का जाप करेंगे।

संध्या-समय कहीं भी आकाश की टुकड़ियों पर बादल न थे। वर्षा से धुले हुए वायुमण्डल पर सितारे चमकने लगे थे। पूर्णिमा का चांद निकला हुआ था। वायु भी मंद-मंद बह रही थी। मेले से लौटे हुए दर्शक अपनी थकान उतार रहे थे। वे बेसुध हुए सो रहे थे और नदी पर कोई नौका दिखाई न देती थी।

फणीभूषण उसी खिड़की में आ बैठा और तकिए से सिर लगाकर आकाश की ओर ध्यान से देखने लगा। उसको उस समय वह समय याद आया, जब वह कॉलेज में शिक्षा प्राप्त कर रहा था। संध्या-समय चौक में लेटकर अपनी भुजा पर सिर रखकर झिलमिलाते हुए सितारों को देखकर मनीमलिका की सुंदर कल्पना में खो जाया करता था। उन दिनों कुछ समय का विछोह मिलन की आशाओं को अपने आंचल में लिए बहुत ही प्रिय मालूम हुआ करता था, परंतु वह सब-कुछ अब स्वप्न मालूम होता था।

सितारे आकाश से ओझल होने लगे, अंधकार ने दाएं-बाएं और नीचे-ऊपर सब ओर से पर्दे डालने आरम्भ कर दिए और ये पर्दे आंख की पलकों की भांति परस्पर मिल गए। संसार स्वप्नमय हो गया।

किंतु आज फणीभूषण पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव-सा था। वह अनुभव कर रहा था कि उसकी आशाओं के पूर्ण होने का समय समीप है।

पिछली रातों की भांति किसी के पांवों की आहट फिर स्नान-घाट की सीढ़ियों पर चढ़ने लगी, फणीभूषण ने आंखें बंद कर लीं और विचारों में निमग्न हो गया। पांवों की आहट मुख्य द्वार से प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण मकान में होती हुई शयन-कक्ष के द्वार पर आकर विलीन हो गई। फणीभूषण का सम्पूर्ण शरीर कांपने लगा, परंतु वह दृढ़-निश्चय कर चुका था कि अंत तक आंखें नहीं खोलेगा। आहट कमरे में प्रविष्ट हुई, खूंटी पर की साड़ी, ताक के लैंप, खुले हुए पानदान और अन्य वस्तुओं के पास थोड़ी-थोड़ी देर ठहरी और अन्त में फणीभूषण की कुर्सी की ओर बढ़ी।

अब फणीभूषण ने आंखें खोल दीं। धीमी-धीमी चांदनी खिड़की से आ रही थी। उसकी दृष्टि के सामने एक ढांचा, एक हड्डियों का पंजर खड़ा था। उसके रोम-रोम में छल था, कलाइयों में कड़े, गले में माला। सारांश यह कि प्रत्येक जोड़ जड़ाऊ आभूषणों से दमक रहा था। सम्पूर्ण आभूषण ढीले होने के कारण निकले पड़ते थे। नेत्र वैसे ही बड़े-बड़े और चमकीले, लेकिन प्रेम-भावना से रिक्त थे। अट्ठारह वर्ष पूर्व विवाह की रात को शहनाइयों के मधुर स्वरों में इन्हीं मोहिनी आंखों से मनीमलिका ने फणीभूषण को पहली बार देखा था। आज वही आंखें वर्षा की भीगी चांदनी में उसके मुख पर जमी हुई थीं।

पंजर ने दाएं हाथ से संकेत किया। फणीभूषण स्वयं चल पड़ने वाली मशीन की भांति उठा और पंजर के पीछे-पीछे हो लिया। हर कदम पर उसकी हड्डियां चटख रही थीं, आभूषण झंकृत हो रहे थे। वे बरामदे से होते हुए, सीढ़ियों से नीचे उतरे और उसी पथ पर हो लिए जो स्नान-घाट पर जाता था। अंधेरे में जुगनू कभी-कभी चमक उठते थे। मद्धम धीमी चांदनी वृक्षों के गहन पत्तों में से निकलने के लिए प्रयत्नशील थी।

वे दोनों नदी के तट पर पहुंचे। पंजर ने सीढ़ियों से नीचे उतरना शुरू किया। जल पर चांदनी का प्रतिबिम्ब नदी की लहरों से क्रीड़ा कर रहा था। पंजर नदी में कूद पड़ा, उसके पीछे फणीभूषण का पांव भी नदी में गया। उसकी स्वप्न की छलना टूटी तो वहां कोई न था, केवल वृक्षों की एक पंक्ति चौकीदारी कर रही थी।

अब फणीभूषण के सारे शरीर में कम्पन छाया हुआ था। फणीभूषण भी एक अच्छा तैराक था, किंतु अब उसके हाथ-पांव उसके वश में न थे। अगले ही पल वह नदी के अथाह जल की तह में समा चुका था।"

इस दर्द से भरे हुए अंत पर स्कूल के अध्यापक ने कथा को समाप्त किया। उसकी समाप्ति पर हमें फिर एक बार शून्य वायुमण्डल का अनुभव हुआ। मैं भी मौन था। अंधेरे में मेरे मुख के विचारों का अध्ययन वह नहीं कर सकता था।

"क्या आप इसको कहानी कहते हैं?" उसने संदेह की मुद्रा में पूछा।

"नहीं! मैं तो इसे सत्य नहीं समझता, प्रथम तो इसका कारण यह है कि मेरी प्रकृति उपन्यास और कहानी-लेखन से ऊंची है और दूसरा कारण यह है कि मैं ही फणीभूषण हूं।" मैंने बात को काटकर कहा।

स्कूल का अध्यापक अधिक व्याकुल नहीं था।

"किंतु आपकी पत्नी का नाम?" उसने पूछा।

"नरवदा काली।"

# भिखारिन

एक अंधी बुढ़िया प्रतिदिन मंदिर के दरवाजे पर जाकर खड़ी हो जाती, दर्शन करने वाले बाहर निकलते तो वह हाथ फैला देती और नम्रता से कहती—

"बाबूजी! अंधी पर दया हो जाए।"

वह जानती थी कि मंदिर में आने वाले सहृदय और श्रद्धालु हुआ करते हैं। उसका यह अनुमान असत्य न था। आने-जाने वाले दो-चार पैसे उसके हाथ पर रख ही देते। अंधी उनको दुआएं देती और उनकी सहृदयता को सराहती। स्त्रियां भी उसके पल्ले में थोड़ा-बहुत अनाज डाल जाया करती थीं।

प्रातः से संध्या तक वह इसी प्रकार हाथ फैलाए खड़ी रहती। उसके पश्चात मन-ही-मन भगवान को प्रणाम करती और अपनी लाठी के सहारे झोंपड़ी का पथ ग्रहण करती। उसकी झोंपड़ी नगर से बाहर थी। रास्ते में भी याचना करती जाती, किंतु राहगीरों में अधिक संख्या श्वेत वस्त्रों वालों की होती, जो पैसे देने की अपेक्षा झिड़कियां दिया करते हैं। तब भी अंधी निराश न होती और उसकी याचना बराबर जारी रहती। झोंपड़ी तक पहुंचते-पहुंचते उसे दो-चार पैसे और मिल जाते।

झोंपड़ी के पास पहुंचते ही एक दस वर्ष का लड़का उछलता-कूदता आता और उससे लिपट जाता। अंधी टटोलकर उसके मस्तक को चूमती।

बच्चा कौन है? किसका है? कहां से आया? इस बात से कोई परिचय नहीं था। पांच वर्ष हुए पास-पड़ोस वालों ने उसे अकेला देखा था। इन्हीं दिनों एक दिन संध्या-समय लोगों ने उसकी गोद में एक बच्चा देखा। वह रो रहा था। अंधी उसका मुख चूम-चूमकर उसे चुप कराने का प्रयत्न कर रही थी। यह कोई असाधारण घटना न थी, अतः किसी ने भी न पूछा कि बच्चा किसका है। उसी दिन से यह बच्चा अंधी के पास था और प्रसन्न था। उसको वह अपने से अच्छा खिलाती और पहनाती।

अंधी ने अपनी झोंपड़ी में एक हांडी गाड़ रखी थी। संध्या-समय जो कुछ मांगकर लाती उसमें डाल देती और उसे किसी वस्तु से ढक देती, इसलिए कि दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि उस पर न पड़े। खाने के लिए अन्न काफी मिल जाता था। उससे काम चलाती। पहले बच्चे को पेट भरकर खिलाती फिर स्वयं खाती।

रात को बच्चे को अपने सीने से लगाकर वहीं पड़ी रहती। प्रातःकाल होते ही उसको खिला-पिलाकर फिर मंदिर के द्वार पर जा खड़ी होती।

काशी में सेठ बनारसी दास बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। बच्चा-बच्चा उनकी कोठी से परिचित है। वे बहुत बड़े देशभक्त और धर्मात्मा हैं। धर्म में उनकी बड़ी रुचि है। दिन के बारह बजे तक सेठ स्नान-ध्यान में संलग्न रहते। कोठी पर हर समय भीड़ लगी रहती। कर्ज के इच्छुक तो आते ही थे, परंतु ऐसे व्यक्तियों का भी तांता बंधा रहता जो अपनी पूंजी सेठजी के पास धरोहर के रूप में रखने आते थे। सैकड़ों भिखारी अपनी जमा-पूंजी इन्हीं के पास जमा कर जाते। अंधी को भी यह बात ज्ञात थी, किंतु पता नहीं अब तक वह अपनी कमाई यहां जमा कराने में क्यों हिचकिचाती रही।

उसके पास काफी रुपए हो गए थे। हांडी लगभग पूरी तरह भर गई थी। उसको शंका थी कि कोई चुरा न ले। एक दिन संध्या-समय अंधी ने वह हांडी उखाड़ी और अपने फटे हुए आंचल में छिपाकर सेठजी की कोठी पर पहुंची।

सेठजी बही-खाते के पृष्ठ उलट रहे थे। उन्होंने पूछा—"क्या है बुढ़िया?"

अंधी ने हांडी उनके आगे सरका दी और डरते-डरते कहा—"सेठजी! इसे अपने पास जमा कर लो। मैं अंधी, अपाहिज कहां रखती फिरूंगी?"

"क्या है इसमें?" सेठजी ने हांडी की ओर देखकर कहा।

अंधी ने उत्तर दिया—"भीख मांग-मांगकर अपने बच्चे के लिए दो-चार पैसे जमा किए हैं। अपने पास रखते हुए डरती हूं। कृपया इन्हें आप अपनी कोठी में रख लें।"

सेठजी ने मुनीम की ओर संकेत करते हुए कहा—"बही में जमा कर लो।" फिर बुढ़िया से पूछा—"तेरा नाम क्या है?"

अंधी ने अपना नाम बताया। मुनीमजी ने नकदी गिनकर उसके नाम से जमा कर ली और वह सेठजी को आशीर्वाद देती हुई अपनी झोंपड़ी में चली आई।

दो वर्ष बहुत सुख के साथ बीते। इसके पश्चात एक दिन लड़के को ज्वर ने आ दबोचा। अंधी ने दवा-दारू की, झाड़-फूंक से भी काम लिया, टोने-टोटकों का भी प्रयोग किया, परंतु सभी प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। साहस ने जवाब दे दिया, वह निराश हो गई। फिर ध्यान आया कि संभवतः डॉक्टर के इलाज से फायदा हो जाए। इस विचार के आते ही वह गिरती-पड़ती सेठजी की कोठी पर पहुंची। सेठजी उपस्थित थे।

"सेठजी! मेरी जमा-पूंजी में से दस-पांच रुपए मुझे मिल जाएं तो बड़ी कृपा होगी। मेरा बच्चा मर रहा है। डॉक्टरों को दिखाऊंगी।" अंधी ने कहा।

"कैसी जमा-पूंजी? कैसे रुपए? मेरे पास किसी के रुपए जमा नहीं हैं।" सेठजी ने कठोर स्वर में कहा।

"दो वर्ष हुए मैं आपके पास धरोहर रख गई थी। दे दीजिए बड़ी दया होगी।" अंधी ने रोते हुए कहा।

सेठजी ने मुनीमजी की ओर रहस्यमयी दृष्टि से देखते हुए कहा—"मुनीमजी! जरा देखना तो इसके नाम की कोई पूंजी जमा है क्या? तेरा नाम क्या है री?"

अंधी की जान-में-जान आई, आशा बंधी। पहला उत्तर सुनकर उसने सोचा कि सेठ बेईमान है, किंतु अब सोचने लगी संभवतः उसे ध्यान न रहा होगा। ऐसा धर्मी व्यक्ति भी भला कहीं झूठ बोल सकता है। उसने अपना नाम बता दिया।

मुनीम ने बही-खाता उलट-पलटकर देखा। फिर कहा—"नहीं तो, इस नाम पर एक पाई भी जमा नहीं है।"

अंधी वहीं जमी बैठी रही। उसने रो-रोकर कहा—"सेठजी! परमात्मा के नाम पर, धर्म के नाम पर कुछ दे दीजिए। मेरा बच्चा जी जाएगा। मैं जीवन-भर आपके गुण गाऊंगी।"

परंतु पत्थर में जोंक न लगी। सेठजी ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया—"जाती है या नौकर को बुलाऊं?"

अंधी लाठी टेककर खड़ी हो गई और सेठजी की ओर मुंह करके बोली—"अच्छा भगवान तुम्हें बहुत दे।" और अपनी झोंपड़ी की ओर चल दी।

यह आशीष न था, बल्कि एक दुखी औरत का शाप था। बच्चे की दशा बिगड़ती गई, दवा-दारू हुई ही नहीं, फायदा कैसे होता। एक दिन उसकी अवस्था चिंताजनक हो गई। प्राणों के लाले पड़ गए। उसके जीवन से अंधी भी निराश हो गई। सेठजी पर रह-रहकर उसे क्रोध आता था। इतना धनी व्यक्ति है, दो-चार रुपए दे देता तो क्या चला जाता और फिर मैं उससे कुछ दान नहीं मांग रही थी, अपने ही रुपए मांगने गई थी। सेठजी से उसे घृणा हो गई।

बैठे-बैठे उसको कुछ ध्यान आया। उसने अपने बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया और ठोकरें खाती, गिरती-पड़ती, सेठजी के पास पहुंची। वह उसके द्वार पर धरना देकर बैठ गई। बच्चे का शरीर ज्वर से भभक रहा था और अंधी का कलेजा भी।

एक नौकर किसी काम से बाहर आया। अंधी को दरवाजे पर बैठा देखकर उसने सेठजी को सूचना दी। सेठजी ने आज्ञा दी कि उसे भगा दो। नौकर ने अंधी

से चले जाने को कहा, लेकिन वह उस स्थान से न हिली। मारने का भय दिखाया, परंतु वह टस-से-मस न हुई। उसने फिर अंदर जाकर कहा कि वह नहीं टलती।

सेठजी स्वयं बाहर आए। देखते ही पहचान गए। बच्चे को देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि उसकी शक्ल-सूरत उनके मोहन से बहुत मिलती-जुलती है। सात वर्ष पहले मोहन किसी मेले में खो गया था। उसकी बहुत खोज की, परंतु उसका कोई पता न चला। उन्हें स्मरण हो आया कि मोहन की जांघ पर एक लाल रंग का चिन्ह था। इस विचार के आते ही उन्होंने अंधी की गोद के बच्चे की जांघ देखी। चिन्ह अवश्य था, परंतु पहले से कुछ बड़ा। उनको विश्वास हो गया कि बच्चा उन्हीं का है। उन्होंने तुरंत उसको छीनकर अपने कलेजे से चिपटा लिया। शरीर ज्वर से तप रहा था। नौकर को डॉक्टर लाने के लिए भेजा और स्वयं मकान के अंदर चल दिए।

अंधी खड़ी हो गई और चिल्लाने लगी—"मेरे बच्चे को न ले जाओ, मेरे रुपयों को हजम कर गए, अब क्या मेरा बच्चा भी मुझसे छीनोगे?"

सेठजी बहुत चिंतित हुए और कहा—"बच्चा मेरा है। यही वह बच्चा है। सात वर्ष पहले कहीं खो गया था, अब मिला है, सो इसे कहीं नहीं जाने दूंगा और लाख यत्न करके भी इसके प्राण बचाऊंगा।"

अंधी ने एक जोर का ठहाका लगाया—"तुम्हारा बच्चा है, इसीलिए लाख यत्न करके भी उसे बचाओगे। मेरा बच्चा होता तो उसे मर जाने देते, क्यों? यह भी कोई न्याय है? इतने दिनों तक खून-पसीना एक करके इसको पाला है। मैं इसे अपने हाथ से नहीं जाने दूंगी।"

सेठजी की अजीब दशा थी। उनको कुछ सुझाई नहीं दे रहा था। कुछ देर वहीं मौन खड़े रहे, फिर मकान के अंदर चले गए। अंधी कुछ समय तक खड़ी रोती रही, फिर वह भी अपनी झोंपड़ी की ओर चल दी।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभु की कृपा हुई या दवा ने जादू के जैसा प्रभाव दिखाया, मोहन का ज्वर उतर गया। होश आने पर उसने आंखें खोलीं तो सर्वप्रथम शब्द उसकी जुबान से निकला 'मां'।

चारों ओर अपरिचित लोगों को देखकर उसने अपने नेत्र फिर बंद कर लिए। उस समय से उसका ज्वर फिर अधिक होना शुरू हो गया। मां-मां की रट लगी हुई थी। डॉक्टर ने जवाब दे दिया। सेठजी के हाथ-पांव फूल गए, चारों ओर अंधेरा दिखाई देने लगा।

"क्या करूं? एक ही बच्चा है, इतने दिनों बाद मिला भी तो मृत्यु उसको अपने चंगुल में दबा रही है, इसे कैसे बचाऊं?"

अचानक उन्हें अंधी का ध्यान आया। पत्नी को बाहर भेजा कि देखो कहीं वह अब तक द्वार पर न बैठी हो, परंतु वह वहां कहां? सेठजी ने फिटन तैयार कराई और बस्ती से बाहर उसकी झोंपड़ी पर पहुंचे। झोंपड़ी बिना द्वार के थी। वे अंदर गए और जाकर देखा कि अंधी एक फटे-पुराने टाट पर पड़ी है और उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है। सेठजी ने धीरे-से उसको हिलाया। उसका शरीर भी अग्नि की भांति तप रहा था।

सेठजी ने कहा—"बुढ़िया! तेरा बच्चा मर रहा है। डॉक्टर निराश हो गए हैं, रह-रहकर वह तुझे पुकारता है। अब तू ही उसके प्राण बचा सकती है। चल और मेरे...नहीं-नहीं अपने बच्चे की जान बचा ले।"

अंधी ने उत्तर दिया—"मरता है तो मरने दो। मैं भी मर रही हूं। हम दोनों स्वर्ग-लोक में फिर मां-बेटे की तरह मिल जाएंगे। इस लोक में सुख नहीं है। वहां मेरा बच्चा सुख से रहेगा। मैं वहां उसकी सुचारु रूप से सेवा-सुश्रूषा करूंगी।"

सेठजी रो दिए। आज तक उन्होंने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया था, लेकिन इस समय अंधी के पांवों पर गिर पड़े और रो-रोकर कहा—"ममता की लाज रख लो। आखिर तुम भी उसकी मां हो। चलो तुम्हारे जाने से वह बच जाएगा।"

ममता शब्द ने अंधी को विकल कर दिया। उसने तुरंत कहा—"अच्छा चलो।"

सेठजी सहारा देकर उसे बाहर लाए और फिटन पर बिठा दिया। फिटन घर की ओर दौड़ने लगी। उस समय सेठजी और अंधी भिखारिन दोनों की एक ही दशा थी। दोनों की यही इच्छा थी कि शीघ्र-से-शीघ्र अपने बच्चे के पास पहुंच जाएं।

कोठी आ गई, सेठजी ने सहारा देकर अंधी को उतारा और अंदर ले गए। भीतर जाकर अंधी ने मोहन के माथे पर हाथ फेरा। मोहन पहचान गया कि यह उसकी मां का हाथ है। उसने तुरंत नेत्र खोल दिए और उसे अपने पास खड़ा देखकर कहा—"मां! तुम आ गईं!"

अंधी भिखारिन मोहन के सिरहाने बैठ गई और उसने मोहन का सिर अपनी गोद में रख लिया। उसको बहुत सुख अनुभव हुआ और वह उसकी गोद में तुरंत सो गया।

दूसरे दिन से मोहन की दशा अच्छी होने लगी और दस-पंद्रह दिन में ही वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया, जो काम हकीमों के जोशान्दे, वैद्यों की पुड़िया और

डॉक्टरों के मिक्सचर न कर सके, वह अंधी की स्नेहमयी सेवा ने पूरा कर दिया।

मोहन के पूरी तरह स्वस्थ हो जाने पर अंधी ने विदा मांगी। सेठजी ने बहुत कुछ कहा-सुना कि वह उन्हीं के पास रह जाए, परंतु वह सहमत न हुई, विवश होकर उसे विदा करना पड़ा। जब वह चलने लगी तो सेठजी ने रुपयों की एक थैली उसके हाथ में दे दी। अंधी ने मालूम किया—"इसमें क्या है?"

सेठजी ने कहा—"इसमें तुम्हारी धरोहर है, तुम्हारे रुपए। मेरा वह अपराध...!"

अंधी ने बात काटकर कहा—"यह रुपए तो मैंने तुम्हारे मोहन के लिए संग्रह किए थे, उसी को दे देना।"

अंधी ने थैली वहीं छोड़ दी और लाठी टेकते हुए चल दी। बाहर निकलकर फिर उसने उस घर की ओर नेत्र उठाए, उसके नेत्रों से आंसू बह रहे थे, लेकिन वह एक भिखारिन होते हुए भी सेठ से महान थी। इस समय सेठ याचक था और वह दाता थी।

# कवि और कविता

राजमहल के सामने लोगों की भीड़ लगी हुई थी। एक नवयुवक संन्यासी बीन पर प्रेम की धुन सुना रहा था। उसका मधुर स्वर गूंज रहा था। उसके मुख पर दया और सहृदयता के भाव प्रकट हो रहे थे। स्वर के उतार-चढ़ाव और बीन की झंकार, दोनों ने मिलकर बहुत ही आनंदमय स्थिति उत्पन्न कर रखी थी। दर्शक झूम-झूमकर आनंद प्राप्त कर रहे थे। गाना समाप्त हुआ, दर्शक चौंक उठे। रुपए-पैसों की वर्षा होने लगी। एक-एक करके भीड़ छंटने लगी। नवयुवक संन्यासी ने सामने पड़े हुए रुपए-पैसों को बड़े ध्यान से देखा और आप-ही-आप मुस्करा दिया। उसने बिखरी हुई दौलत को एकत्रित किया और फिर उसे ठोकर मारकर बिखरा दिया। इसके पश्चात बीन उठाकर एक ओर चल दिया।

राजकुमारी माया ने भी उस नवयुवक संन्यासी का गाना सुना था। दर्शक प्रतिदिन वहां आते थे और संन्यासी को न पाकर निराश होकर वापस चले जाते थे। राजकुमारी माया भी प्रतिदिन राजमहल के सामने देखती और घंटों देखती रहती। जब रात्रि का अंधकार सर्वत्र अपना आधिपत्य जमा लेता तो राजकुमारी खिड़की में से उठती। उठने से पहले वह सर्वदा एक निराशाजनक करुणामय आह भरा करती थी।

इसी प्रकार दिन, हफ्ते और महीने बीत गए। वर्ष समाप्त हो गया, परंतु युवक संन्यासी फिर दिखाई न दिया। जो व्यक्ति उसकी खोज में आया करते थे, धीरे-धीरे उन्होंने वहां आना छोड़ दिया। वे उस घटना को भूल गए, किंतु राजकुमारी माया...राजकुमारी माया उस युवक संन्यासी को हृदय से न भुला सकी। उसकी आंखों में हर समय उसका चित्र फिरता रहता। धीरे-धीरे उसने भी गाने का अभ्यास किया। वह प्रतिदिन अपने उद्यान में जाती और गाने का अभ्यास किया करती। जिस समय रात्रि की नीरवता में सोहनी (एक रागिनी) की लय गूंजती तो सुनने वाले ज्ञानशून्य हो जाते।

राजकवि अनंगशेखर युवक था। उसकी कविता प्रभावशाली और जोरदार होती थी। जिस समय वह दरबार में अपनी कविता गायन के साथ पढ़कर सुनाता तो

सुनने वालों पर मादकता की लहर दौड़ जाती, हर तरफ खामोशी का राज होता। राजकुमारी माया को कविता से प्रेम था। संभवतः वह भी अनंगशेखर की कविता सुनने के लिए विशेषतः दरबार में आ जाती थी।

राजकुमारी की उपस्थिति में अनंगशेखर की जुबान लड़खड़ा जाती। वह ज्ञानशून्य-सा, खोया-खोया-सा हो जाता, किंतु इसके साथ ही उसकी भावनाएं जाग्रत हो जातीं। वह झूम-झूमकर उपमा और उदाहरणों को सम्मुख रखता। सुनने वाले अनुरक्त हो जाते। राजकुमारी के हृदय में भी प्रेम की नदी तरंगें लेने लगती। उसको अनंगशेखर से कुछ प्रेम अनुभव होता, किंतु तुरंत ही उसकी आंखें खुल जातीं और युवक संन्यासी का चित्र उसके सामने फिरने लगता। ऐसे मौके पर उसकी आंखों से आंसू छलकने लगते।

अनंगशेखर आंसू-भरे नेत्रों पर दृष्टि डालता तो स्वयं भी आंसुओं के प्रवाह में बहने लगता। उस समय वह शस्त्र डाल देता और अपनी जुबान से आप ही कहता—"मैं अपनी पराजय मान चुका।"

कवि अपनी धुन में मस्त था। चारों ओर प्रसन्नता और आनंद दृष्टिगोचर होता था। वह अपने विचारों में इतना मग्न था, जैसे प्रकृति के आंचल में रंगरेलियां मना रहा हो।

अचानक वह चौंक पड़ा। उसने आंखें फाड़-फाड़कर अपने चारों ओर दृष्टि डाली और फिर एक उसांस ली। सामने एक कागज पड़ा था। उस पर कुछ पंक्तियां लिखी हुई थीं। रात्रि का अंधकार फैलता जा रहा था। वह वापस चल दिया।

राजमहल पास ही था और उससे मिला हुआ उद्यान था। अनंगशेखर बेकाबू हो गया। राजकुमारी की खोज उसको बरबस उद्यान के अंदर ले गई।

चंद्रमा की किरणें जलस्रोत की लहरों से अठखेलियां कर रही थीं। प्रत्येक दिशा में जूही और मालती की गंध फैली हुई थी। कवि आनंदमय दृश्य को देखने में तल्लीन हो गया। भय और शंका ने उसे आ दबाया। वह आगे कदम न उठा सका। पास ही एक घना वृक्ष था। उसकी छाया में खड़े होकर वह उद्यान के बाहर ही आनंद प्राप्त करने लगा। इसी बीच में वायु का एक मधुर झोंका आया। उसने अपने शरीर में एक कम्पन-सा अनुभव किया। इसके बाद उद्यान से एक मधुर स्वर गूंजा, कोई गा रहा था। वह अपने-आपे में न था। कुछ खो-सा गया। मालूम नहीं इस स्थिति में वह कितनी देर खड़ा रहा? जिस समय वह होश में आया तो देखा कोई पास खड़ा है। वह चौंक पड़ा, उसके सामने राजकुमारी माया खड़ी थी।

अनंगशेखर का सिर नीचा हो गया। राजकुमारी ने मुस्कराते हुए होंठों से पूछा—"अनंगशेखर! तुम यहां क्यों आए?"

कवि ने सिर उठाया, फिर कुछ लजाते हुए राजकुमारी की ओर देखा, लेकिन मुख से कुछ न कहा।

"तुम यहां क्यों आए?" राजकुमारी ने फिर पूछा।

इस बार कवि ने साहस से काम लिया। हाथ में जो पत्र था वह राजकुमारी को दे दिया। राजकुमारी ने कविता पढ़ी। उसने उस कविता को अपने पास रखना चाहा, किंतु वह हाथ से छूटकर गिर गई। राजकुमारी तीर की भांति वहां से चली गई। अब कवि से सहन न हो सका। वह ज्ञानशून्य होकर चिल्ला उठा—"माया! माया!"

परंतु अब माया कहां थी।

राजदरबार में एक युवक आया। दरबारी चिल्ला उठे—"अरे, यह तो वही संन्यासी है, जो उस दिन राजमहल के सामने गा रहा था।"

"यह युवक कौन है?" राजा ने मालूम किया।

"महाराज! मैं कवि हूं।" युवक ने उत्तर दिया।

राजकुमारी उस युवक को देखकर चौंक उठी।

राजकवि ने भी उस युवक पर दृष्टि डाली तो उसका मुख फक् हो गया। पास ही एक व्यक्ति बैठा हुआ था। उसने कहा—"वाह! यह तो एक भिक्षुक है।"

"नहीं, उसका अपमान न करो, वह कवि है।" राजकवि बोल उठा।

चारों ओर सन्नाटा छा गया। महाराज ने उस युवक से कहा—"अपनी कोई कविता सुनाओ।"

युवक आगे बढ़ा। उसने राजकुमारी को और राजकुमारी ने उसको देखा। स्वाभिमान अनुभव करते हुए उसने कदम आगे बढ़ाए।

राजकवि ने भी यह स्थिति देखी तो उसके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं।

युवक ने अपनी कविता सुनानी शुरू की। प्रत्येक चरण पर 'वाह-वाह' की आवाज गूंजने लगी। किसी ने ऐसी कविता आज तक न सुनी थी।

युवक का मुख स्वाभिमान और प्रसन्नता से दमक उठा। वह मस्त हाथी की भांति झूमता हुआ आया और अपने स्थान पर बैठ गया। उसने एक बार फिर राजकुमारी की ओर देखा और इसके पश्चात राजकवि की ओर।

"तुम भी अपनी कविता सुनाओ।" महाराज ने राजकवि से कहा।

अनंगशेखर चेतनाशून्य-सा बैठा था। उसके मुख पर निराशा और असफलता की झलक प्रकट हो रही थी।

महाराज फिर बोले—"अनंगशेखर! किस चिंता में निमग्न हो? क्या इस युवक कवि का उत्तर तुमसे नहीं बन पड़ेगा?"

यह अपमान कवि के लिए बड़ा ही असहनीय था। उसकी आंखें रक्तिम हो गईं। वह अपने स्थान से उठा और आगे बढ़ा। उस समय उसके कदम डगमगा रहे थे।

आगे पहुंचकर वह रुका, हृदय खोलकर उसने अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया। चारों ओर शून्यता और ज्ञानशून्यता छा गई। श्रोता मूर्ति-से बनकर रह गए।

राजकवि मौन हो गया। एक बार उसने चारों ओर दृष्टिपात किया। उस समय राजकुमारी का मुख पीला था। उस युवक का घमंड टूट चुका था। धीरे-धीरे सब दरबारी नींद से चौंके। चारों ओर से 'धन्य है, धन्य है' की ध्वनि गूंज उठी। महाराज ने राजसिंहासन से उठकर कवि को अपने हृदय से लगा लिया। कवि की यह अंतिम विजय थी।

महाराज ने निवेदन किया—"अनंग! मांगो क्या मांगते हो? जो मांगोगे दूंगा।"

राजकवि कुछ देर तक सोचता रहा। इसके बाद उसने कहा—"महाराज! मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं केवल राजकुमारी का इच्छुक हूं।"

यह सुनते ही राजकुमारी को चक्कर आ गया और वह बेहोश हो गई। कवि ने फिर कहा—"महाराज! आपके कथन अनुसार राजकुमारी मेरी हो चुकी है। अब मैं जो चाहूं कर सकता हूं।" यह कहकर उसने युवक कवि को अपने पास बुलाया और कहा—"मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य यह था कि राजकुमारी का प्रेम प्राप्त करूं। तुम नहीं जानते कि राजकुमारी की प्रसन्नता और सुख के लिए मैं अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार हूं। हां युवक! तुम इनमें से किसी बात से परिचित नहीं हो, किंतु थोड़ी देर के पश्चात तुमको ज्ञात हो जाएगा कि मैं ठीक कहता था या नहीं।"

कवि की जुबान रुक गई। उसका स्वर भारी हो गया, सिलसिला जारी रखते हुए उसने कहा—"क्या तुम जानते हो कि मैंने क्या देखा? नहीं...और इसका न जानना ही तुम्हारे लिए अच्छा है। सोचता था, जीवन सुख से व्यतीत होगा, लेकिन यह आशा भ्रमित सिद्ध हुई। जिससे मुझे प्रेम है, वह अपना हृदय किसी ओर को भेंट कर चुकी है। जानते हो अब मैं राजकुमारी को पाकर भी प्रसन्न न हो सकूंगा, क्योंकि राजकुमारी खुश न रह सकेगी। आओ, युवक आगे आओ! तुम्हें मुझसे घृणा हो तो बेशक हुआ करे। आओ आज मैं अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति तुम्हें सौंपता हूं।"

राजकवि मौन हो गया, किंतु उसका मौन क्षणिक था। अचानक उसने महाराज से कहा—"महाराज! एक विनती है और वह यह कि मेरे स्थान पर इस युवक को राजकवि बनाया जाए।"

राजकवि के कदम लड़खड़ाने लगे। देखते-देखते वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। अंतिम बार पथराई हुई आंखों से उसने राजकुमारी की ओर देखा, यह दृष्टि अर्थमयी थी। वह राजकुमारी से कह रहा था—"मेरी प्रसन्नता यही है कि तुम प्रसन्न रहो। विदा!"

इसके पश्चात कवि ने अपनी आंखें बंद कर लीं और ऐसी बंद कीं कि फिर न खुलीं।

# विदा

वधू के पिता के लिए तो धैर्य धरना थोड़ा-बहुत सम्भव भी था, लेकिन वर के पिता पल-भर के लिए भी सब्र करने को तैयार न थे। उन्होंने समझ लिया था कि कन्या के विवाह की आयु पार हो चुकी है, लेकिन किसी प्रकार कुछ दिन और भी पार हो गए तो इस चर्चा को भद्र या अभद्र किसी भी उपाय से दबाए रखने की क्षमता भी समाप्त हो जाएगी?

कन्या की आयु अवैध गति से बढ़ रही थी। इसमें किसी को शंका करने की आवश्यकता कोई बड़ी नहीं थी, लेकिन इससे भी बड़ी शंका इस बात की थी कि कन्या की तुलना में दहेज की रकम अब भी काफी अधिक थी। वर के पिता इसीलिए इस प्रकार से जल्दी मचा रहे थे।

मैं ठहरा वर अपितु विवाह के विषय में मेरी राय से अवगत होना नितांत व्यर्थ समझा गया। अपनी कर्तव्यपरायणता में मैंने भी किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने दी, यानी एफ.ए. पास करके छात्रवृति का अधिकारी बन बैटा। परिणाम यह निकला कि मेरे संबंध में श्री प्रजापति के दोनों ही पक्ष, कन्या पक्ष और वर पक्ष बार-बार बेचैन होने लगे।

हमारी जन्म-भूमि में जो पुरुष एक बार विवाह कर लेता है, उसके मन में दूसरी बार विवाह करके रचनात्मक कार्यों में कोई जिज्ञासा या उद्वेग नहीं होता। एक बार नर-मांस का स्वाद लेने पर उसके प्रति बाघ के मन की जो दशा होती है, नारी के विषय में बहुत कुछ वैसी ही हालत एक बार विवाह कर लेने वाले पुरुष के मन की भी होती है।

एक बार नारी का अभाव घटित हुआ कि फिर सबसे पहला प्रयत्न उस अभाव को पूर्ण करने के लिए किया जाता है। ऐसा करते हुए इस बार उसका मन दुविधा में नहीं रहता कि भावी पत्नी की आयु क्या है और उसकी अवस्था कैसी है?

मैं देखता हूं कि सारी दुविधा और दुश्चिंता का ठेका आजकल के लड़कों के ही नाम छूटा है। लड़कों की ओर से वारम्बार विवाह का प्रस्ताव होने पर उनके पिता पक्ष के चांदी के समान श्वेत केश खिजाब की महिमा से बारम्बार श्याम-वर्ण को अपना लेते हैं और उधर बातचीत की तप्ताग्नि से ही लड़कों के श्याम केश,

मारे चिंता और परेशानी के रात के कुछ घंटों में ही उठने का उपक्रम करते हैं।

आप विश्वास कीजिए, मेरे मन में ऐसा कोई विषय या उद्वेग का श्रीगणेश नहीं हुआ, अपितु विवाह के प्रस्ताव से मन मयूर वसंत की दक्षिण पवन की शीतलता में नृत्य कर उठा। कौतूहल से उलझी हुई कल्पना की नई आई हुई कोंपलों के बीच मानो गुपचुप कानाफूसी होने लगी। जिस विद्यार्थी को एडमंड वर्क की फ्रांसीसी क्रांति की घोर टीकाओं के पांच-सात पोथे ज़ुबानी घोटने हों, उसके मन में इस जाति के भावों का उठना निरर्थक ही समझा जाएगा। यदि टेक्स्ट बुक कमेटी के द्वारा मेरे इस लेख के पास होने की लेशमात्र भी शंका होती तो संभवतः ऐसा कहने से पूर्व ही सचेत हो जाता।

परंतु मैं यह क्या ले बैठा? क्या यह भी ऐसी कोई घटना है, जिसे लेकर मैं उपन्यास लिखने की योजना बना रहा हूं। मेरी योजना इतनी शीघ्र आरम्भ हो जाएगी, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। प्रबल आकांक्षा थी कि वेदना के जो कजरारे मेघ गत कई वर्षों से मन में छा रहे हैं, उन्हें किसी बैसाखी संध्या की तूफानी वर्षा के वेग द्वारा बिल्कुल ही निष्प्राण कर दूंगा, परंतु न तो बच्चों की पाठ्य-पुस्तक ही लिखी गई, क्योंकि संस्कृत का व्याकरण मेरे मस्तिष्क से अछूता रह गया था और न काव्य ही रचा जा सका, क्योंकि मातृभाषा मेरे जीवन युग में ऐसी फली-फूली नहीं थी, जिसके द्वारा मैं अपने हृदय के राज को बाहर प्रकट कर पाता, अतः देख रहा हूं कि मेरे अंदर का संन्यासी आज अपने अट्टहास से अपना ही परिहास करने के लिए बैठा है। इसके अतिरिक्त वह करे भी तो क्या? उसके आंसू शुष्क जो हो गए हैं। जेठ की कड़कड़ाती धूप वस्तुतः जेठ का आंसू शून्य क्रंदन ही तो है।

जिसके साथ मेरा विवाह हुआ था। उसका वास्तविक नाम नहीं बताऊंगा, क्योंकि आज ब्रह्मांड के पुरातत्त्व-वेत्ताओं में उसके ऐतिहासिक नाम के विषय में विशेष विवाद होने की शंका नहीं है। जिस ताम्र-पत्र पर उसका नाम अंकित है, वह मेरा ही हृदय है। वह पट और पत्नी का नाम किसी युग में भी विलुप्त होगा, यह सोचना मेरी कल्पना से बाहर है, लेकिन जिस सुनहरी दुनिया में वह अक्षय बना रहा, वहां इतिहास के विद्वानों का आना-जाना नहीं होता है। इस पर भी मेरे लेख में उसका कुछ-न-कुछ नाम तो चाहिए ही, अच्छा तो समझ लीजिए शबनम उसका नाम था, क्योंकि शबनम में मुस्कान और रुदन दोनों घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं और भोर का संदेश प्रभात बेला तक आते ही चुक जाता है।

शबनम मुझसे केवल दो वर्ष छोटी थी। मेरा पिता गौरी दान से विमुख हो,

सो यह बात नहीं थी। उनके पिताजी कट्टर समाज-विद्रोही थे। देश में प्रचलित किसी भी धर्म के प्रति उनमें श्रद्धा न थी। उन्होंने खूब कसकर आंगल भाषा का अध्ययन किया था। मेरे पिता उग्र भाव से समाज के अनुयायी थे। जिसे अंगीकार करते हुए किंचित-मात्र भी अड़चन हो, ऐसी किसी भी वस्तु की हमारे समाज की विशाल ड्योढ़ी या अंतःपुर में या पिछली राह पर झलक देख पाना सम्भव न था। इसका भी कारण यही था कि उन्होंने भी कसकर आंगल भाषा का अध्ययन किया था।

पितामह और पिताजी के विभिन्न रूप क्रांति की दो विभिन्न मूर्तियां थीं। कोई भी सरल स्वभाव का नहीं। फिर भी बड़ी आयु वाली कन्या के साथ मेरा विवाह करना पिता ने इसलिए स्वीकार कर लिया कि उसकी इस बड़ी-सी आयु की दोनों मुट्ठियों में दहेज की रकम भी बहुत बड़ी थी। शबनम मेरे श्वसुर की एकमात्र कन्या थी। पिताजी को पूर्ण विश्वास था कि कन्या के पिता का सारा धन भावी दामाद के भविष्य के उदर को परिपूर्ण करने वाला है। मेरे श्वसुर को किसी मत-मतांतर का झमेला नहीं था? वे पश्चिम की किसी पहाड़ी रियासत के नरेश के यहां किसी उच्च पद पर थे। शबनम जब गोद में ही थी, तभी उसकी मां के प्यार का आंचल उस पर से उठ गया था। इस बात की ओर उसके पिता का ध्यान भी नहीं गया कि पुत्री प्रति वर्ष एक-एक वर्ष करके बड़ी होती जा रही है। वहां उनके समाज का कोई ऐसा ठेकेदार नहीं था, जो उनके नेत्रों में उंगली डालकर इस सच्चाई को उनके हृदय में बिठा देता।

शबनम ने यथा समय उम्र के सोलह वर्ष पार किए, परंतु वे स्वाभाविक सोलह वर्ष थे, सामाजिक नहीं। किसी ने उसे यौवन के प्रति सचेत होने का परामर्श नहीं दिया और न ही उसने स्वयं उस ओर देखा? मैंने उन्नीसवें वर्ष में कॉलेज के तृतीय वर्ष में पग रखा। ठीक तभी मेरा विवाह हो गया। समाज या समाज के ठेकेदार के मत से वह आयु विवाह के उपयुक्त है या नहीं, इस विषय में दोनों पक्ष लड़-भिड़कर चाहे खून-खराबा कर बैठें, लेकिन मैं तो निवेदन के साथ यही कहना चाहता हूं कि परीक्षा पास करने के लिए यह आयु जिस प्रकार ठीक है, विवाह करने के लिए भी उससे किसी प्रकार कम नहीं।

विवाह का सूत्रपात एक चित्र के द्वारा हुआ था। उस दिन मैं पढ़ाई-लिखाई में सिर गड़ाए बैठा था कि मेरे साथ परिहास का संबंध रखने वाली किसी आत्मीया ने मेरे सम्मुख टेबल पर शबनम का चित्र लाकर रख दिया और कुछ पल शांति के साथ बिताकर कहा—"लो, अब झूठ-मूठ की पढ़ाई को बंद करके सचमुच की पढ़ाई करो। एकदम जी तोड़कर परिश्रम में लगाने वाली पढ़ाई।"

चित्र किसी अनाड़ी चित्रकार द्वारा खींचा गया था। कन्या की मां नहीं थी, अतः उसके दीर्घ श्याम केशों को बांध-संवारकर जूड़े में जरी गूंथकर कोलकाता की प्रसिद्ध शाह या मालिक कम्पनी की भद्दी, तंग जैकेट पहनाकर दूसरे पक्ष के नेत्रों में धूल झोंकने का बरबस प्रयत्न नहीं किया गया था। केवल एक सरल भरा हुआ चेहरा था। मृगी-सी दो आंखें और सीधी-सादी एक साड़ी। फिर भी पता नहीं क्यों कोई अपूर्व महिमा, सौंदर्य उसे घेरे हुए था। किसी एक चौकोर चौकी पर वह बैठी हुई थी। पीछे आवरण के स्थान पर एक धारीदार शतरंजी झूल रही थी। पास में तनिक-सी ऊंची तिपाई पर ही फूलदानी में फूलों के सुंदर गुलदस्ते दिख रहे थे। ईरानी कालीन पर साड़ी की तिरछी किनार से किंचित अनाबद्ध दो कोमल खाली पैर। चित्र की उस रूप-सुधा को जैसे ही मेरे मन के जादू का स्पर्श मिला कि वह मेरे अंतरतम में जाग उठी। वे दोनों कजरारी आंखें मेरे सारे चिंतन को चीरकर मुझ पर जाने कैसे अनोखे भाव से आकर स्थिर हो गईं और उस तिरछी किनार के निम्न भाग के दोनों अनावृत्त पगों ने मेरे अंतर पद्मासन पर बरबस अपना घर बना लिया।

पत्रे की तिथियां आई-गई हो गईं। विवाह के दो-तीन लग्न भी बीत गए, किंतु मेरे श्वसुर को छुट्टी मिलने का नाम भी नहीं। इधर कुछ मास से मेरे देखते-देखते एक अकाल मेरी इतनी बड़ी अविवाहित उम्र को फिजूल ही उन्नीसवें वर्ष से बीसवें वर्ष की ओर धकेलने का प्रयास कर रहा था। श्वसुर और उनके अधिकारियों पर मुझे खीझ होने लगी।

विवाह का दिन ठीक अकाल के पूर्व लग्न पर ही आकर पड़ा। उस दिन की शहनाई की हर तान आज मुझे स्मरण हो रही है। उस दिन के प्रति मुहूर्त को मैंने चेतनता के साथ स्पर्श किया था। मेरी यह उन्नीस वर्ष की आयु मेरे जीवन में सदैव रहे। मैं उसे कदापि नहीं भुला सकूंगा।

विवाह-मण्डप में चारों ओर कोलाहल-सा मचा हुआ था। उसी के बीच कन्या का कोमल हाथ मैंने अपने हाथों में पाया। मुझे स्पष्ट तरीके से याद है कि यही मेरे जीवन की एक परम आश्चर्यजनक घटना है।

मेरे मन ने बारम्बार यही कहा—'इसे मैंने पाया है, हासिल किया है, किंतु किसे? यह तो दुर्लभ है। यह नारी है, इसके रहस्य का क्या कभी ओर-छोर पाया जा सकता है?'

मेरे श्वसुर का नाम गौरी शंकर था। जिस हिमाचल पर वे उच्च पदाधिकारी थे, उसी हिमाचल के मानो गोती थे। उनके गम्भीरता के शिखर पर क्षेत्र में कोई प्रशांत स्वच्छ हंसी उज्ज्वल होकर छाई हुई थी। उनके हृदय के स्नेह-स्रोत का

संधा (साथ) जिसने भी एक बार पा लिया, उसने फिर कभी उनसे संबंध-विच्छेद करने की चेष्टा नहीं की।

काम पर लौटने से पूर्व उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—"बेटा, अपनी बच्ची को सत्रह वर्ष से जानता हूं और तुम्हें अभी कुछ दिनों से, इस पर भी सौंपा तुम्हारे ही हाथों में है, जो निधि आज तुम्हें मिली है, किसी दिन उसका मूल्य भी परख सको, इससे बढ़कर आशीर्वाद मेरे पास नहीं है।"

मेरे माता-पिता ने उन्हें बारम्बार आशा भरे शब्दों में कहा—"समधीजी! कुछ चिंता न करना। तुम्हारी पुत्री जैसे पिता को छोड़कर आई है, वैसे ही माता-पिता दोनों पाए ऐसा ही समझिए।"

शबनम से विदा होते समय वे हंसकर बोले—"बिटिया अब चलता हूं। इस बूढ़े पिता को छोड़ तेरा कौन अपना रहा है? आज से यदि इसका कुछ भी गुम हो जाए तो इसके लिए मुझे जिम्मेवार न ठहराना।"

शबनम ने उत्तर दिया—"क्यों नहीं। यदि कभी इतनी-सी चीज भी गुम हो गई तो आपको सारी भरनी पड़ेगी।"

अंत में घर रहते हुए जिन विषयों पर बहुधा ही झंझट खड़े हो जाते थे, उनसे उसने पिता को बार-बार सचेत कर दिया। भोजन के विषय में अनियम का उन्हें खासा अभ्यास था। कुछ विशेष प्रकार के अपथ्य भोजन पर उनकी विशेष रुचि थी। पिता को उन सारे प्रलोभनों से यथासंभव दूर रखना बेटी का विशेष कर्तव्य था। इसी से वह पिता का हाथ पकड़कर बोली—"बाबूजी! क्या मेरी एक बात रखोगे?"

पिता ने प्रफुल्लित मन से कहा—"मानव इसलिए बचपन देता है कि एक दिन उसे भंग कर चैन की सांस ले सके। इससे बचपन का देना ही श्रेयस्कर है।"

फिर वह कुछ न बोली और पिता के चले जाने पर उसने कमरे के द्वार बंद कर लिए, इसके बाद की घटना का बखान अंतर्यामी ही कर सकते हैं। पिता-पुत्री की अश्रुहीन विदाई का दृश्य पार्श्व के कक्ष की चिर-कौतूहली अंतःपुरिकाओं ने देखा, सुना और आलोचना की—"कैसी अजीब बात है भला? रूखी-सूखी जमीन पर रहते-रहते इन लोगों का हृदय भी सूखकर कांटा हो गया है। माया-ममता का चिन्ह लेशमात्र भी नहीं रहा। राम! राम! राम!"

मेरे श्वसुर के मित्र बनमाली बाबू ने ही हमारी बातचीत पक्की की थी। वे हम लोगों के परिवार से भलीभांति परिचित थे। वे मेरे श्वसुर से बोले—"बेटी को छोड़कर तो तुम्हारा दुनिया में कोई नहीं है। यहीं इनके पास ही कोई मकान लेकर जिन्दगी के शेष दिन काट डालो।"

उत्तर मिला—"जब दान किया है तो निःशेष करके ही दे डाला है। फिर लौट-लौटकर निहारने से उसकी पीड़ा बढ़ेगी। जिस अधिकार को एक बार त्याग चुका, उसे बार-बार बनाए रखने के प्रयत्न से बढ़कर विडम्बना और क्या होगी?"

अंत में मुझे एकांत में ले जाकर किसी अपराधी की तरह सकुचाते हुए बोले—"बिटिया को पुस्तकें पढ़ने का बड़ा चाव है और लोगों को खिलाना-पिलाना उसे बहुत अच्छा लगता है। यदि बीच-बीच में तुम्हें रुपए-पैसे भेज दिया करूं, इससे वे नाराज तो नहीं होंगे?"

सुनकर मुझे तनिक आश्चर्य हुआ। कारण जीवन में कभी किसी से भी धनराशि मिलने पर पिताजी नाराज हुए हों, उनका ऐसा बिगड़ा मिजाज तो मैंने कभी नहीं देखा? जो हो, मेरे श्वसुर मानो मुझे घूंस दे रहे हों, कुछ ऐसे ही भाव से मेरे हाथों में सौ रुपए का एक नोट थमाकर, वे वहां से झटपट चल दिए। मैंने देखा, इस बार जेब से रुमाल निकालने की बारी आ ही गई। स्तब्ध होकर मैं विचारों में खो गया। मैंने अनुभव किया कि ये लोग बिल्कुल ही अन्य जाति के मानव हैं।

अपने सहपाठियों में कितनों ही को तो विवाह करते हुए देखा है। विवाह मंत्रों के उच्चारण के साथ-ही-साथ स्त्री को एकबारगी कंठ के निम्न भागों में उतार लेते हैं। हजम करने के यंत्र तक पहुंचने पर थोड़ी देर के बाद वह पदार्थ अपने गुणों एवं अवगुणों को हल कर सकता है और इसके फलस्वरूप हृदय के भीतर चिंता बनकर हलचल भी आरम्भ हो सकती है। सो होती रहे, परंतु निगलने के रास्ते में इससे कोई रुकावट नहीं पड़ती।

किंतु मैंने विवाह-मण्डप में ही समझ लिया था कि पाणिग्रहण के मंत्र द्वारा जिसे प्राप्त किया जाता है, उससे घर-गृहस्थी तो भली-भांति चल जाती है, परंतु उसके हृदय को पूर्णरूपेण पाना पंद्रह आना बाकी रह जाता है। मुझे संदेह है कि विश्व के अधिकांश पुरुष पत्नी को ठीक-ठाक पाते हैं या उनको समझते हैं। ये स्त्री को ब्याह कर ले आते हैं, किंतु उपलब्ध नहीं कर पाते और न कभी उन्हें इस बात का अहसास हो पाता है कि उन्होंने पाया कुछ भी नहीं। उनकी पत्नियां भी मृत्यु काल तक इस कटु सत्य से अवगत नहीं हो पातीं, लेकिन मैंने ऐसा अनुभव किया कि वह मेरी साधना की निधि है। वह अचल सम्पत्ति नहीं, सम्पदा है, अगाध रत्नराशि है।

शबनम, नहीं इस नाम से काम नहीं चलेगा। एक तो यह कि यह उसका वास्तविक नाम नहीं और न यह उसका यथार्थ परिचय है। वह तो दिवाकर की तप्त रश्मि है, क्षय कालीन उषा की विदा बेला के अश्रुओं का बिन्दु नहीं। नाम

को गोपनीय रखकर ही आखिर क्या होगा? उसका वास्तविक नाम था...हेमन्ती।

मैंने देखा, सत्रह वर्ष की इस सुंदरी पर यौवन का पूरा आलोक बिखरा हुआ है। फिर भी इस अवस्था की गोद में भी उसे चेतनता नहीं मिली है। हिमाच्छादित शिखर पर भोर का उजाला तो झलक उठा है, परंतु हिम अभी तक गल नहीं पाया है। कैसी निष्कलंक शुभ्र है वह, कैसी पवित्रता की प्रतिमा, यह मैं नहीं जानता हूं। मेरे मन में बराबर यह शंका बनी रहती थी कि इतनी पढ़ी-लिखी शिक्षित लड़की का मन पता नहीं, क्योंकर पा सकूंगा?

किंतु कुछ ही दिनों के उपरांत मैंने जान लिया कि उसके मन की राह और शिक्षा की राह आपस में कहीं कटी ही नहीं है। कब उसके सरल-शुभ्र मन पर हल्की-सी रंगीनी छा गई, नेत्र आनंद से झूम उठे और देह-मन मानो उत्सुक हो उठे, सो निश्चिंतता के साथ कह देना मेरे लिए कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है?

यह तो हुई एक पक्ष की बात, लेकिन अब दूसरा पक्ष भी है। वह और उसके विषय में पूर्ण रूप से कहने का समय अब आ चुका है?

मेरे श्वसुर राजदरबार में उच्च पदाधिकारी थे, इसलिए उनकी कितनी धनराशि बैंक के खातों में है, इस संबंध में जनश्रुति ने बहुत तरह के अनुमान लगाए थे। इनमें से किसी भी अनुमान की संख्या लाख के आंकड़ों से नीचे नहीं पड़ती थी। फलस्वरूप एक ओर पिता के प्रति सम्मान बढ़ता गया तो दूसरी ओर इकलौती बेटी की ओर स्नेह। हमारी घर-गृहस्थी का काम-धंधा और तौर-तरीका जानने के लिए हेम खूब उत्सुकता दिखला रही थी, लेकिन मां ने उसे अगाध स्नेह दिखाने के अभिप्राय से किसी काम में हाथ नहीं लगाने दिया? यहां तक कि मायके से हेम के साथ जो पहाड़िन मेहरी आई थी, उसे उन्होंने वास्तव में अपने कक्ष में नहीं घुसने दिया। फिर भी उसकी जाति-पांति के बारे में किसी प्रकार का अपवाद नहीं किया। वे डरती थीं कि विशेष छान-बीन करने पर कहीं कोई अरुचिकर सत्य न सुनना पड़े।

दिन इसी तरह कट जाते, लेकिन एक दिन पिताजी का मुख बड़ा ही गम्भीर दिखाई दिया। बात यह थी कि मेरे श्वसुर ने मेरे विवाह में पंद्रह सहस्र रुपए नकद और पांच सहस्र के आभूषण दिए थे। इधर पिताजी को किसी कृपापात्र दलाल से पता चला कि यह धनराशि कर्ज लेकर जुटाई गई थी, जिसका ब्याज भी कुछ मामूली न था और लाख रुपए की अफवाह तो बिल्कुल उड़ाई हुई थी।

वास्तव में मेरे विवाह के पूर्व श्वसुर की सम्पत्ति के परिणाम के विषय में पिताजी ने भी उनकी कोई आलोचना नहीं की थी। फिर भी न जाने किस

तर्क-पद्धति से आज उन्होंने यह बिल्कुल पक्का निश्चय कर लिया था कि उनसे समधी ने जानबूझकर यह धोखा उनके साथ किया है। इसके अलावा पिताजी की यह धारणा थी कि मेरे श्वसुर राजा के मुख्यमंत्री या उसी समान किसी उच्च पद के अधिकारी हैं। पीछे पता चला कि वे वहां के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष हैं।

पिताजी ने टीका की अर्थात विद्यालय के मुख्याध्यापक, विश्व में जितने भी भद्र पद हैं, उनमें सबसे ऊंचा है। पिताजी ने बड़ी-बड़ी आशाएं कर रखी थीं कि आज नहीं तो कल, श्वसुर के अवकाश प्राप्त करने पर राज मंत्री के पद पर वे स्वयं ही प्रतिष्ठित होंगे।

इन्हीं दिनों के कार्तिक मास में रामलीला के उपलक्ष्य में हमारा जन्म भूमि का सारा परिवार कोलकाता वाली हवेली में आ जुटा। वधू को देखते ही उनमें एक छोर से दूसरे छोर तक कानाफूसी की लहर दौड़ गई। क्रमशः अस्फुट हुई। दूर के नाते से संबंधित नानी ने कहा—"आग लगे मेरे भाग्य को, नई बहू ने तो उम्र में मुझे भी हरा दिया।"

सुनकर नानी की समवयस्का बोल उठी—"अरे हमें न हराएगी तो हमारा बच्चा विदेश से बहू लाने ही क्यों जाएगा?"

मां ने उग्रता के साथ उत्तर दिया—"भैया रे! यह क्या बात हो रही है? बहू ने अभी ग्यारह पार नहीं किए, यही अगले फाल्गुन में बारह वर्ष में पांव धरेगी। पछहुआ देश में दाल-भात खा-खाकर बड़ी हुई है बेचारी। सो देह तनिक अधिक संभल गई है।"

वृद्धाओं ने शांत अविश्वास के साथ उत्तर दिया—"सो बिटिया रानी! इतनी कमजोर तो हमारी निगाह अभी नहीं हुई है। हमारे ख्याल में तो लड़की वालों ने जरूर उम्र कुछ दबाकर बताई है।"

मां ने कहा—"हम लोगों ने तो जन्मपत्री देखी है।"

"बात सच है, किंतु जन्म-पत्री से तो प्रमाणित होता है कि बहू की उम्र सत्रह है।"

वृद्धाओं ने कहा—"सो जन्मपत्री में क्या धोखा-धड़ी नहीं चलती?"

इस बात पर घोर वाद-विवाद छिड़ गया। यहां तक कि संघर्ष की नौबत आ गई। उसी क्षण वहां हेम आ पहुंची। उन दोनों वृद्धाओं में से एक ने उसी से पूछा—"बहू रानी! तुम्हारी उम्र क्या है, बताओ तो भला?"

मां ने आंखों से संकेत किया, परंतु हेम उनका मतलब नहीं समझी। बोली—"सत्रह।"

मां तिलमिला उठी। उसने उसी अवस्था में कहा—"तुम्हें मालूम नहीं है।"

हेम विरोध का प्रदर्शन करते हुए बोली—"मुझे ठीक मालूम है। मेरी उम्र सत्रह है।"

वृद्धाओं ने गुपचुप एक-दूसरे के हाथ दबाए। बहू की मूर्खता पर खीझकर मां बोली—"तुम्हें तो सब मालूम है, लेकिन तुम्हारे बाबूजी ने हमसे खुद कहा है कि तुम्हारी उम्र ग्यारह वर्ष है।"

सुनकर हेम चौंक पड़ी और बोली—"बाबूजी ने! कभी नहीं।"

मां ने कहा—"तुमने तो चकित कर दिया है। समधीजी स्वयं मेरे सामने कह गए थे और बिटिया कहती है, कभी नहीं।" यह कहकर मां ने आंख से फिर संकेत किया। अब की बार हेम संकेत समझ गई, लेकिन उसने कंठ को और भी मजबूत करके कहा—"बाबूजी! ऐसी बात कभी नहीं कह सकते।"

मां ने स्वर को धीमा करके कहा—"तू क्या मुझे झूठा ठहराना चाहती है?"

हेम ने फिर वही दुहराया—"बाबूजी कभी झूठ नहीं बोलते।"

इसके बाद मां जितना भी अपवाद फैलाने लगी, उतनी ही कालिमा फैलकर सबको एकाकार करके लीपने-पोतने लगी। इतना ही नहीं, मां ने नाराज होकर पिताजी के सम्मुख अपनी बहू की मूढ़ता और जिद्‌दीपन की शिकायत रखी। पिताजी ने उसी क्षण हेम को बुलाकर धमकाते हुए कहा—"इतनी बड़ी अविवाहित कन्या की अवस्था सत्रह वर्ष की थी, यह कन्या के लिए कोई बड़प्पन की बात है, जो उसका ढिंढोरा पीटती फिरोगी? हमारे घर में यह सब नहीं चलेगा, कहे देता हूं।"

हाय रे भाग्य! बहू रानी के प्रति पिताजी का यह मधु मिश्रित पंचम स्वर इस प्रकार उस्ताद बाजखां के घोर षडज तक कैसे उतर आया?

हेम ने दुखी होकर पूछा—"यदि कोई मेरी उम्र जानना चाहे तो क्या उत्तर दूं?"

पिताजी बोले—"झूठ बोलने की आवश्यकता नहीं। कह दिया करो, मुझे नहीं पता, मेरी सासू मां जानती हैं।"

इसके बाद झूठ किस तरह बोला जाता है, इसका उपदेश सुनने के बाद हेम कुछ इस तरह चुप हो गई कि पिताजी को यह समझना बाकी न रहा कि उसका सारा सदुपदेश बिल्कुल चिकने घड़े पर पानी की तरह पड़ा।

हेम की दुर्गति पर दुख क्या प्रकट करूं, उसके समक्ष तो मेरा मस्तक ही नत हो गया। मैंने देखा शारदीया प्रभात के आकाश की तरह उसके नेत्रों की वह सरल उदार दृष्टि मानो किसी संशय की छाया से म्लान हो उठी! भीत मृगी की तरह मानो उसने मेरे मुख की ओर देखा और सोचा, मैं कदाचित् इन्हें नहीं पहचानता।

उस दिन मैं एक सुंदर जिल्द वाली अंग्रेजी कविताओं की एक पुस्तक खरीद कर उसके लिए ले आया था। उसने पुस्तक को अपने सुंदर हाथों से थामा, फिर धीमे-से गोद में रखकर एक बार भी खोलकर नहीं देखा। मैंने उसके दाएं हाथ को अपने हाथों में लेकर कहा—"हेम, मुझ पर नाराज न होना, मैं तो तुम्हारे सत्य के बंधन में बंधा हुआ हूं।"

सुनकर वह कुछ न बोली, केवल तनिक मुस्करा दी। सृष्टिकर्ता ने ऐसी ही मुस्कान जिसे दी है, उसे और कुछ कहने की आवश्यकता ही कहां?

इधर पिताजी की आर्थिक तरक्की के कुछ दिनों बाद से सृष्टिकर्ता के उस अनुग्रह को चिरस्थायी कर रखने के स्वार्थ से हमारे यहां नए उत्साह से पूजा-पाठ चल रहा था। आज तक कभी भी पूजा-अर्चना में बहू की कभी भी बुलाहट नहीं हुई। अचानक नई वधू को पूजा का थाल सजाने का आदेश मिला। वह बोली—"मां! मुझे समझा दो, कैसे क्या करना होगा?"

प्रश्न कुछ ऐसा न था, जिसे सुनकर किसी के सिर पर आसमान टूट पड़ता। यह तो सब लोग भली प्रकार जानते थे कि मातृहीन हेम प्रवास में ही इतनी बड़ी हुई है। फिर भी इस उद्देश्य का आशय तो केवल हेम को लज्जित करना ही था। सो सभी ने अपने गाल पर हथेली रखकर कहा—"हाय मैया! यह भला कैसी बात है? आखिर किस नास्तिक के घर की बेटी है? बहू घर की लक्ष्मी अब इस गृहस्थी से विदा होने ही वाली है? देरी मत समझना।"

और इसी प्रसंग में हेम के पिता को लक्ष्य करके न जाने कितनी अकथनीय बातें की गईं?

कटु आलोचना की हवा जब से चलनी आरम्भ हुई थी, तभी से हेम आज तक बराबर चुप रहकर सब सहन करती आ रही थी। कभी पल-भर के लिए भी उसने किसी के सामने आंसू न बहाए, परंतु आज तो उसकी बड़ी-बड़ी आंखों को प्लावित करती हुई अश्रुओं की झड़ी लग गई। वह खड़ी होकर बोल उठी—"आपको मालूम है, वहां मेरे बाबूजी को सब लोग ऋषि कहते हैं।"

ऋषि मानते हैं, सुनकर उपस्थित लोगों ने पेट भरकर दिल के गुब्बारे निकाले। इस घटना के उपरांत, जब कभी उसके पिता का उल्लेख करना होता तो सब लोग यही कहते 'तुम्हारे ऋषि बाबूजी'। इस बहू का सबसे मर्म स्थान कौन-सा है? इसे हमारे यहां सबने अच्छी प्रकार समझ लिया था। वास्तव में मेरे श्वसुर न ब्राह्मण थे और न ईसाई और बहुत करके नास्तिक भी नहीं, पूजा-अर्चना की बात कभी उनके ध्यान में ही नहीं थी। बेटी को उन्होंने शिक्षिता बनाने का प्रयत्न अवश्य किया था। कितने ही उपदेश भी दिए थे, परंतु सृष्टिकर्ता के संबंध में कोई

उपदेश नहीं दिया! इसी बारे में पूछने पर उन्होंने इतना ही कहा—"जिस विषय में मैं स्वयं नहीं जानता, उसे सिखलाना केवल कपट ही होगा।"

ससुराल में हेम की एक सचमुच की भक्तिन थी, मेरी छोटी भगिनी नारायणी। वह अपनी भाभी को बहुत स्नेह करती थी। उसके लिए उस बेचारी को काफी प्रताड़ना सहनी पड़ती थी। घर में हेम के अपमान की कहानी मुझे उसी से सुनने को मिलती थीं। हेम के मुंह से कभी किसी दिन भी मुझे कोई शिकायत सुनने को नहीं मिली। लज्जा का आवरण उसके अपने लिए नहीं था, बल्कि मेरे लिए ही था।

बाबूजी के पास से वह जो पाती वह मुझे पढ़ने के लिए दे देती। ये पत्र छोटे होने पर भी रस से भरपूर होते थे। वह स्वयं भी उनको जब कभी पत्र लिखती तो मुझे अवश्य दिखा देती । बाबूजी के साथ उसका जो नाता था, उसमें अपने साथ मुझे भी बराबर का भागी बनाए बिना उसका दाम्पत्य पूर्ण जो नहीं हो पाता। उसके इन पन्नों में ससुराल के संबंध में किसी प्रकार की शिकायत का आभास मात्र भी नहीं! यदि होता, भावी आशंका की संभावना थी। कारण नारायणी से मैंने सुन लिया था कि जांच के लिए बीच में उसके पत्र गोपनीय रीति से खोल लिए जाते हैं। इन पत्रों में उसका कोई भी दोष सिद्ध न होने से ऊपर वालों का मन शांत हो, सो बात नहीं, बल्कि आशा टूटने का दुख ही संभवतः उन्हें ज्यादा टीसा करता था, इसलिए उन्होंने चिढ़कर कहना शुरू कर दिया—"अखिर इतनी जल्दी-जल्दी पत्र डालने की ही भला कौन-सी जरूरत है? मानो बाबा ही सब कुछ हैं। हम लोग क्या कोई नहीं?"

और इसी प्रकार की अनेक अरुचिकर बातों का तांता शुरू हो गया। मैंने क्षुब्ध होकर हेम से कहा—"तुम बाबूजी को पत्र लिखती हो, वह किसी और को न देकर मुझे ही दे दिया करो। कॉलेज जाते समय राह में छोड़ दिया करूंगा।"

चकित होकर हेम ने कहा—"क्यों?"

मैंने संकोचवश कोई उत्तर नहीं दिया, लेकिन हवेली में सबने कहना आरम्भ कर दिया कि अब उसका नशा लड़के के सिर चढ़ना शुरू हुआ है। बी.ए. की उपाधि अब ताक पर धरी रहेगी। आखिर उस बेचारे का भला दोष ही क्या है?

सो तो है ही! दोष किसी का है तो वह बेचारी हेम का। उसकी उम्र सत्रह वर्ष की है, वह उसका पहला दोष है। सृष्टिकर्ता का विधान ही ऐसा है, यह भी हेम का तीसरा दोष है, इसलिए तो मेरे हृदय के कण-कण में समस्त आकाश इस तरह की बांसुरी की तान साधे हुए है।

बी.ए. की उपाधि को निर्विकार भाव से मैं चूल्हे में जला सकता था, परंतु हेम के कल्याण के लिए मैंने प्रण किया कि मैं अवश्य उत्तीर्ण होऊंगा और अच्छे अंकों

से। दो कारणों से मुझे अपने प्रण को पूरा कर पाने का भरोसा था। एक तो हेम के अगाध स्नेह में ऐसा आकाशव्यापी विस्तार था कि वह मन को संकीर्ण, आसक्ति में फंसाकर नहीं रहती। उस स्नेह के आस-पास कोई खूब ही स्वास्थ्यवर्द्धक वायु बहा करती थी। दूसरे परीक्षा की पुस्तकें कुछ ऐसी थीं, जिन्हें हेम के साथ-साथ पढ़ना असंभव न था। सो मैं कमर कसकर परीक्षा पास करने के उद्योग में जुट गया।

एक दिन रविवार की दोपहर के समय मैं बाहर के कमरे में बैठा हुआ मार्टिन की 'आचार शास्त्रावली' पुस्तक की खास-खास पंक्तियों के मध्य के पथ को चीरते हुए लाल पेंसिल का हल चलाए जा रहा था कि अचानक सामने की ओर मेरी दृष्टि जा पहुंची। कमरे के सामने आंगन के उत्तर की ओर अंतःपुर में जाने के लिए एक जीना था, इसी जीने में बाहर की तरफ सींकचेदार खिड़कियां थीं। मैंने देखा कि हेम उन्हीं में किसी एक खिड़की के पास पश्चिम की ओर निहारती हुई चुपचाप बैठी है। उस ओर मल्लिक की बगिया है, जिसमें कचनार का पेड़ गुलाबी पुष्पों के भार को सम्भाले हुए खड़ा हुआ है। इस भाषाहीन गहरी वेदना के रूप को आज तक इतने सुस्पष्ट भाव से मैंने कभी नहीं देखा था। खास कुछ भी नहीं अपने कमरे में से मैं किंचित पीछे की ओर दीवार के सहारे टिके उसके सिर के भंगी भाव भली-भांति देख पा रहा था। मेरा अपना जीवन इस तरह लबालब भर गया था कि किसी प्रकार की भी कोई शून्यता मैंने आज तक देखी नहीं थी।

आज अकस्मात अपने बिल्कुल ही पार्श्व में मैंने किसी बहुत निराशा का घना गड्ढा देखा था। इस तलहीन गर्त को मैं क्योंकर, कैसे पूरा कर सकूंगा? मुझे तो जीवन में कुछ भी छोड़ना नहीं पड़ा। न घर, न द्वार और न आज तक किसी प्रकार का अभ्यास ही, लेकिन हेम को तो सभी कुछ छोड़कर और दूर चलकर मेरे पास आना पड़ा। इसका परिणाम कितना अधिक है, सो मैंने भली-भांति सोचा भी नहीं? हमारे घर में अपमान के कांटों की सेज पर वह बैठी है। उसको हमने आपस में विभक्त कर लिया है। उस वेदना के आसव को हम दोनों ने एक साथ ही पिया था, इसलिए हम दोनों एक-दूसरे के निकट थे, किंतु हिमाचल में पली हुई यह गिरि नंदिनी सत्रह वर्ष की लम्बी अवधि तक अपने बाह्य और अंतः जीवन में कैसी विशाल युक्ति के मध्य पली थी? कैसे कठोर सत्य और उदार आलोक में उसकी छवि एवं प्रकृति इस प्रकार स्वच्छ और सबल हो चुकी है? उस सारे वैभव से आज हेम का नाता किस प्रकार निष्ठुरता के साथ तोड़ दिया गया है।

इस बात का आज से पहले कभी मैंने अनुभव ही नहीं किया था? कारण उस स्थान पर हेम के साथ मेरा आसन बराबरी का न था। वह तो अंदर-ही-अंदर

पल-पल तिल-तिल करके मृतप्राय-सी होती जा रही थी। उसे मैं सब कुछ दे सकता था, परंतु मुक्ति नहीं। मुक्ति मेरे अपने अंतर में ही कहां है? इसी कारण कोलकाता की इस संकरी गली में खिड़की के सींकचों के भीतर से मूक आकाश के साथ उसके मूक मन की बातचीत हुआ करती।

एक बार रात को उठकर मैंने देखा, वह बिछौने पर नहीं है। हाथों पर सिर को थामकर तारों से भरपूर आकाश की ओर मुंह उठाए, वह छत पर लेटी है।

मार्टिन की चरित्रता का बखान वहां पड़ा रह गया। मैं सोचने लगा कि मेरा कर्तव्य क्या है? बाल्यकाल से ही पिताजी के साथ मेरे संबंध में मेरे संकोच की सीमा न थी। समक्ष होकर कभी उनसे किसी वस्तु के लिए प्रार्थना करने की न तो मेरी आदत ही थी और न ही साहस, लेकिन आज मुझसे न रहा गया। लाज और संकोच को ताक पर रखकर मैं उनसे कह ही बैठा—"उसकी तबीयत आजकल कुछ अच्छी नहीं है, सो एक बार बाबूजी के यहां भेज देना ही अच्छा होगा।"

यह सुनकर पिताजी चकित रह गए। उनके मन में इस बात का तनिक भी संदेह न रहा कि हेम ने ही मुझमें इस अभूतपूर्व साहस का बीजारोपण किया है और अच्छी प्रकार से सिखा-पढ़ाकर यहां भेजा है। वे तत्काल ही उठकर अंतःपुर में गए और हेम से पूछा—"बहू! तुम्हें क्या नई बीमारी है, बताना तो भला?"

हेम ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"कहां, बीमारी तो कुछ भी नहीं है।"

पिता ने सोचा कि उत्तर तेज दिखाने के लिए है, परंतु हेम जो प्रतिदिन सूखती जा रही थी, सो नित्यप्रति देखते रहने के कारण हम लोग समझ नहीं पाते थे।

एक दिन बनमाली बाबू ने उसे देखा तो चौंक पड़े। वे बोले—"ऐं यह क्या? तेरा मुख कैसा हो गया है हेम? बीमार तो नहीं है?"

हेम ने कहा—"नहीं।"

लेकिन इस घटना के दस दिन बाद ही अकस्मात मेरे श्वसुर आ पहुंचे। अवश्य ही बनमाली बाबू ने हेम की तबीयत की बात लिखी होगी?

विवाह के उपरांत पिता से विदा लेते हुए हेम ने अपने आंसू रोक लिए थे, परंतु आज जैसे ही उन्होंने उसकी ठोड़ी छूकर मुंह ऊपर उठाया तो अश्रुओं का बांध टूट गया। उसकी भीगी पलकों ने सब-कुछ बता दिया। वह बाबूजी को मुख से आधी बात भी न कह सकी। वे इतना भी न पूछ पाए कि तू कैसी है? बेटी के क्षीण शरीर, म्लान मुख और पलकों को देखते ही उनकी छाती टूक-टूक हो गई।

हेम बाबूजी का हाथ पकड़कर उन्हें शयन-कक्ष में ले गई। कितनी बातें तो पूछने की हैं। बाबूजी की तबीयत भी तो ठीक नहीं दिखाई देती।

हेम बाबूजी के साथ मायके जाने के लिए उद्यत हो गई। बनमाली बाबू ने भी समधीजी से इस बात का संकेत किया, लेकिन अंततः बात पिताजी की ही रही और उसके आगे हेम की आकांक्षा कुचल दी गई।

बाप-बेटी को विदा करने की बेला फिर एक बार आ पहुंची। बेटी ने नीरव और शुष्क मुस्कान को पीले मुख पर डालते हुए कहा—"बाबूजी! यदि फिर कभी आपने मेरे लिए पागलों की भांति बेतहाशा दौड़ते हुए इस हवेली में कदम रखा तो मैं दरवाजा बंद कर लूंगी।"

बाबूजी ने उसी मुद्रा में उत्तर दिया—"बेटी! भाग्य में फिर आना लिखा हुआ होगा तो साथ में सेंध लगाने के औजार भी लेता आऊंगा।"

इसके बाद हेम के मुख की वह मुस्कान फिर कभी देखने को नहीं मिली।

फिर क्या हुआ सो मुझसे कहा नहीं जाएगा।

सुनता हूं, मां फिर उपयुक्त वधू की खोज में है। संभव है किसी दिन मां के अनुरोध की अवहेलना मुझसे न हो सके। यही मुमकिन है, क्योंकि खैर छोड़िए इन भेद भरी बातों को।

# पाषाणी

बी.ए. की परीक्षा पास करने के बाद अपूर्व कुमार गर्मी की छुट्टियों में विश्व की महान सांस्कृतिक नगरी कोलकाता से अपने गांव वापस लौट रहा था।

रास्ते में एक छोटी-सी नदी पड़ती है। वह नदी बहुधा बरसात के अंत में सूख जाती है, परंतु अभी तो सावन का महीना चल रहा है, इसीलिए नदी अपने यौवन पर है, गांव की हद (सीमा) और बांस की जड़ों का आलिंगन करती हुई वह तीव्रता से बहती चली जा रही है।

लगातार कई दिनों की घनघोर बरसात के बाद आज बादल तनिक छटे हैं और आकाश में सूर्य देव के दर्शन हो रहे हैं।

नौका पर बैठे हुए अपूर्व कुमार के हृदय में बसी हुई प्रतिमा यदि दिखाई देती तो देखते कि वहां भी इस नवयुवक की हृदय-सरिता नव वर्षा से बिल्कुल तट तक भर गई है और सरिता का जल ज्योति से झिलमिल-झिलमिल और वायु के थपेड़ों से छप-छप कर रहा है।

नौका घाट पर जा लगी। नदी के उस तट से वृक्षों की आड़ में से अपूर्व के घर की छत स्पष्ट दिखाई दे रही है। घर पर किसी को खबर तक नहीं कि अपूर्व शहर से वापस लौट रहा है, अतः घर से उसे लिवाने के लिए कोई नहीं आया? नाविक सूटकेस उठाने के लिए तैयार हुआ तो अपूर्व ने उसे मना कर दिया। वह स्वयं ही सूटकेस हाथ में लेकर आनंद की लहर से झूमता हुआ झटपट नौका से उतर पड़ा।

घाट की मिट्टी चिकनी होने के कारण घाट पर फिसलन थी, उतरते ही वह सूटकेस सहित दलदल में गिर पड़ा और ज्यों ही गिरा, त्यों ही जाने किधर से हंसी की ऊंची आवाज ने आकर समीप के पीपल के वृक्ष पर बैठी हुई चिड़ियों को उड़ा दिया।

अपूर्व बहुत ही लज्जित हुआ और झटपट स्वयं को संभालकर चारों ओर देखने लगा। देखा कि घाट के एक छोर पर जहां महाजन की नौका से नई ईंटें उतारकर इकट्ठी की गई हैं, उन्हीं पर बैठी एक नवयौवना हंसते-हंसते लोट-पोट हो रही है। अपूर्व ने पहचान लिया कि वह उसी के पड़ोसी की लाड़ली बेटी मृगमयी है। पहले इनका घर यहां से बहुत दूरी पर बड़ी नदी के तट पर था, परंतु दो-तीन

साल पहले नदी की बाढ़ के कारण उन्हें वह स्थान छोड़कर यहां आना पड़ा।

मृगमयी के विषय में बहुत कुछ अपवाद सुनने के लिए मिलता है। ग्रामवासी पुरुष तो इसे स्नेह से पगली कहकर पुकारते हैं, लेकिन उनकी घरवालियां इसके उद्दण्ड स्वभाव से सर्वदा त्रस्त, चिंतित और शंकित रहती हैं। वह हमेशा गांव के अपने हमउम्र लड़कों के साथ खेलती रहती है, क्योंकि समवयस्क लड़कियों के प्रति उसकी अवज्ञा की सीमा नहीं है। बालकों के राज्य में यह लड़की एक प्रकार से शत्रु-पक्ष की सेना के उपद्रव के समान प्रतीत होती है।

पिता की लाड़ली बेटी जो ठहरी इसीलिए वह इतनी निर्भय रहती है। वास्तव में इस विषय में मृगमयी की मां अपनी सहेलियों के आगे हर समय अपने पति के विरुद्ध फरियाद किया करती है। मगर फिर भी यह सोचकर कि पिता बेटी को बहुत प्यार करते हैं और जब वे अवकाश के समय घर पर रहते हैं तो मृगमयी के नेत्रों के आंसू उनके हृदय-पटल पर बहुत ही आघात पहुंचाते हैं। वे प्रवासी पति का स्मरण करके लड़की को किसी भी तरह पीड़ा नहीं पहुंचा सकतीं?

मृगमयी का रंग देखने में अधिक साफ नहीं है। छोटे-छोटे घुंघराले बाल पीठ पर अटखेलियां करते रहते हैं। चेहरे पर बिल्कुल मासूमियत छाई रहती है। उसकी बड़ी-बड़ी कजरारी आंखों में न तो लज्जा है, न भय और न हाव-भाव में किसी प्रकार का संशय! वह लम्बी, परिपुष्ट, स्वस्थ और सबल नवयौवना है। उसकी आयु अधिक है या कम, यह प्रश्न किसी के मन में उठता ही नहीं। यदि उठता तो ग्रामीण पड़ोसी इस बात पर मां-बाप की निंदा करते कि अभी तक उसका विवाह नहीं किया गया और वह कुंवारी ही फिर रही है। जब कभी गांव के विदेश में रहने वाले जमींदार की नौका आकर घाट पर लगती हैं तो उस दिन सभी ग्रामीणवासी उनकी आवभगत करने में घबरा-से जाते हैं। गृहिणियों के मुख पर अकस्मात नाक के नीचे तक घूंघट खिंच जाता है, परंतु मृगमयी न जाने कहां से किसी के वस्त्रों से हीन बच्चे को उठाए हुए घुंघराले बालों को पीठ पर बिखेरे जा खड़ी होती है। जिस देश में कोई शिकारी नहीं, कोई मुसीबत नहीं, उस देश की मृगी शावक की तरह निडर खड़ी हुई आश्चर्यचकित-सी जमींदार को देखा करती और अंत में बाल-संगियों के पास जाकर इस नए मानव के आचार-व्यवहार के विषय में विस्तार के साथ भूमिका बांधती।

हमारे अपूर्व कुमार ने अवकाश के दिनों में घर आकर इससे पहले और भी दो-चार बार इस सीमाहीन नवयौवना को देखा है और फालतू समय में, यहां तक कि काम के समय में भी इसके विषय में विचार किया है। इस धरा पर बहुत-से चेहरे देखने में आते हैं, परंतु कोई-कोई चेहरा ऐसा होता है कि न कुछ कहना,

न सुनना, चट से मन के भीतर जाकर ऐसा बस जाता है कि उसे निकालना मुश्किल हो जाता है। केवल सौंदर्य के कारण ही ऐसा होता है, वह बात नहीं, वह तो कुछ और ही है, संभवतः वह है स्वच्छता। अधिकांश चेहरों पर मानव प्रकृति पूरी तौर से अपनी ज्योति से नहीं जगमगा पाती। जिस चेहरे पर हृदय के कोने में छिपा हुआ वह रहस्यमय व्यक्ति बिना रुकावट के बाहर निकलकर दिखाई देता है, वह चेहरा सैकड़ों-हजारों चेहरों में भी छिपता नहीं, पल-भर में वह हृदय-पटल पर अंकित हो जाता है। इस लड़की के चेहरे पर, आंखों पर एक चंचल और उद्दण्ड नारी प्रकृति सदैव स्वच्छंद और वन के दौड़ते हुए हिरन की तरह दिखाई देती रहती है, भागती-फिरती रहती है और इसलिए ऐसे सलोने चंचल मुख को एक बार देख लेने पर फिर सहज में वह भुलाए नहीं भूलता।

पाठकगण को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि मृगमयी की कौतूहलता से भरी हास्य-ध्वनि चाहे कितनी ही मृदु क्यों न हो, लेकिन अभागे अपूर्व के लिए वह तनिक दुखदायी ही साबित हुई? मारे लज्जा के उसका चेहरा सुर्ख हो उठा और हाथ में पकड़ा सूटकेस झट-से नाविक के हाथ में सौंपकर वह शीघ्रता से अपने घर की ओर चल दिया।

प्रकृति नदी का सुंदर नृत्य, नदी का किनारा, वृक्षों की छाया, पक्षियों का मृदु कलरव, प्रभात की मीठी-मीठी धूप और बीस वर्ष की अवस्था। कतिपय ईंटों का ढेर ऐसा कुछ खास उल्लेख योग्य नहीं, परंतु उस पर जो मानवी आकृति बैठी थी, उसने उस शुष्क और नीरस आसन पर भी एक प्रकार के मूक सौंदर्य का भाव फैला रखा था। छिः! छिः! ऐसे दृश्ब के मध्य में प्रथम पग उठाते ही, जिसका सारा-का-सारा व्यक्तित्व प्रहसन (हंसी) में परिवर्तित हो जाए तो उसके भाग्य की इससे बढ़कर निष्ठुरता और क्या हो सकती है?

ईंटों के ढेर से उठती हुई हंसी की तरंग सुनते-सुनते वृक्षों की छाया के नीचे दलदल की कीचड़ में सनी धोती उठाए हुए श्रीयुत अपूर्वजी किसी तरह अपने घर पहुंचे?

अकस्मात ही बेटे के पहुंच जाने से विधवा मां मारे उल्लास के फूली न समाई। उसी समय खोया, दही, दूध और बढ़िया मछली की तलाश में दूर-पास सब स्थानों पर आदमी दौड़ाए गए और पास-पड़ोस में भी एक प्रकार की हलचल-सी पैदा हो गई।

भोजन की समाप्ति पर मां ने बेटे के सामने विवाह का प्रस्ताव छेड़ा। अपूर्व इसके लिए तैयार था। कारण यह प्रस्ताव बहुत पहले से ही पेश था, केवल अपूर्व

तनिक कुछ नई रोशनी के चक्कर में आकर हठ कर बैठा था कि बी.ए. पास किए बिना वह विवाह हरगिज नहीं कर सकता इत्यादि। अब तक उसकी मां उसके बी. ए. पास होने की ही राह देख रही थी, सो अब किसी प्रकार की आपत्ति उठाने के मायने हैं कि झूठी बहानेबाजी। अपूर्व ने कहा—"पहले लड़की तो देखो, फिर देखा जाएगा।"

मां ने उत्तर दिया—"लड़की देखी जा चुकी है, उसके लिए तुझे फिक्र करने की जरूरत नहीं।"

किंतु अपूर्व उसके लिए स्वयं ही फिक्र करने के लिए उद्यत हो गया और बोला—"लड़की बिना देखे मैं विवाह नहीं कर सकता।"

मां सोच में पड़ गई। ऐसी अनोखी बात तो आज तक नहीं सुनी थी। फिर भी वह राजी हो गई।

रात को अपूर्व दीपक बुझाकर बिस्तर पर जा लेटा। लेटते ही बरसात यामिनी की सारी-की-सारी स्वर लहरी और पूर्व निस्तब्धता के उस पार से उसकी सेज पर एक उच्छ्वासित उच्च मृदु कंठ की हास-ध्वनि आकर उसके कानों को झंकृत करने लगी। उसका अशांत मन स्वयं को बार-बार निरंतर यह कहकर व्यथित करने लगा कि सवेरे वह जो पैर फिसलकर गिर पड़ा था, उसका किसी-न-किसी युक्ति से सुधार कर लेना ही चाहिए? उस नवयौवना को यह मालूम ही नहीं कि मैं अपूर्व कुमार हूं। अचानक फिसलन पर पांव पड़ जाने के कारण दलदल में गिर जाने पर भी मैं कोई उपेक्षणीय आदमी नहीं हूं।

अगले दिन अपूर्व को लड़की देखने के लिए जाना था। अधिक दूर नहीं, पड़ोस में ही लड़की वालों का घर है। तनिक कुछ कोशिश करने के बाद ही कपड़े बदन पर डाले। धोती और दुपट्टा जोड़कर रेशमी अचकन, सिर पर अमीरी रंग की गोल पगड़ी और पैरों में बढ़िया चमकते हुए जूते पहनकर रेशमी कपड़े की बढ़िया छतरी हाथ में लटकाए वह सवेरे ही चल दिया।

भावी ससुराल में घुसते ही वहां कोलाहल-सा मच गया। अंत में यथा समय कम्पित हृदय को झाड़-पोंछकर, रंग-वंग कर, जूड़े में गोटे आदि लगाकर, एक पतली रंगीन साड़ी में लपेटकर लड़की को उसके भावी पति के सामने लाया गया। आगंतुका एक कोने में लगभग घुटनों तक माथा झुकाए चुपचाप जड़ वस्तु-सी बैठ गई और उसके पीछे धैर्य बंधाए रखने के लिए खड़ी एक अधेड़ अवस्था की दासी। उसका एक भाई, जोकि अभी बच्चा ही था, अपने परिवार में अनाधिकार प्रवेश करने वाले इस नए व्यक्ति की पगड़ी, घड़ी की चैन और उठती हुई मूंछों की ओर बड़े ध्यान से टकटकी लगाकर देखने लगा। अपूर्व ने कुछ देर मूंछों पर

हाथ फेरने के बाद अंत में गम्भीरता के साथ पूछा—"तुम क्या पढ़ती हो?"

आभूषणों के भार में दबी हुई लज्जा की गठरी में से उसे अपने प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। दो-चार बार पूछे जाने और अधेड़ दासी द्वारा पीठ पर बार-बार धैर्य की थपकियां पड़ने के बाद लड़की ने बहुत ही धीमे स्वर में शीघ्रता के साथ एक ही सांस में कहकर छुट्टी पा ली—"कन्या बोधिनी दूसरा भाग, व्याकरण सार, भूगोल, अंकगणित और भारत का इतिहास।"

इतने में बाहर से किसी के तेज चलने की धम-धम की आवाज सुनाई दी और दूसरे ही क्षण दौड़ती-हांफती और पीठ पर केशों को लहराती हुई मृगमयी वहां आ धमकी। उसने अपूर्व की ओर आंख उठाकर देखा तक नहीं, वह सीधी उस भावी वधू के भाई राखाल के पास पहुंची और उसके कोमल हाथ को पकड़कर खींचना शुरू कर दिया। राखाल उस समय भावी वर को देखने में लीन था। वहां से वह किसी भी तरह टस-से-मस नहीं हुआ? दासी मौनता के साथ मृगमयी को धिक्कारने लगी। अपूर्व अपनी सारी-की-सारी मौनता और यश को एकत्रित करके पगड़ी बंधे माथे को ऊंचा करके बैठा रहा और उदर के पास लटकती हुई घड़ी की चैन को हिलाने लगा।

अंत में मृगमयी ने जब देखा कि उसका साथी किसी भी तरह विचलित नहीं हो रहा, तब उसने उसकी कमर पर जोर का मुक्का जमा दिया और लगे हाथों भावी वधू का घूंघट उघाड़कर वह आंधी के वेग के समान जिस प्रकार आई थी, उसी प्रकार भाग गई। दासी मन मारकर रह गई और भीतर-ही-भीतर घुमड़कर गरजने लगी। राखाल अचानक वधू का घूंघट हट जाने से एकाएक खिलखिलाकर हंस पड़ा। इस खुशी में कमर पर पड़े मुक्के की चोट को भी उसने महसूस नहीं किया। कारण, यह लेन-देन अक्सर हुआ ही करता था, इससे आज किसी प्रकार की नवीनता नहीं थी। इसके लिए एक दृष्टांत ही बहुत है।

एक दिन की बात है, मृगमयी के केश तब पीठ तक बढ़े हुए थे। राखाल ने अचानक पीछे से आकर कैंची से उसके बाल काट दिए, इस पर मृगमयी को बहुत क्रोध आया और चट से राखाल के हाथ से कैंची छीनकर उसने अपने शेष केश बड़ी निर्दयता से काटकर उसके मुंह पर दे मारे। मृगमयी के घुंघराले केशों के गुच्छे डाली से गिरे हुए काले अंगूरों के गुच्छों की तरह धरा पर गिर पड़े। इन दोनों में शुरू से ही इस प्रकार की प्रणाली प्रचलित थी।

इसके बाद वह शांत सभा अधिक देर तक न चल सकी। गठरी-सी बनी वधू स्वयं को बड़ी कठिनता से लम्बी बनाकर दासी के साथ घर के भीतर चली गई।

अपूर्व अपनी मूंछों पर हाथ फेरता हुआ उठकर खड़ा हुआ। उसने बाहर जाकर देखा कि उसके बढ़िया नए जूते वहां से गायब हैं। बहुत प्रयत्न करने पर भी इस बात का पता नहीं लगा कि जूते कौन ले गया और कहां गए?

अभी वधू के सभी घर वाले बड़े परेशान हुए और अपराधी के लिए अपशब्दों की बौछार होने लगी। जब किसी प्रकार भी जूतों का पता नहीं लगा तो अंत में विवश होकर घर के मालिक की फटी-पुरानी ढीली चप्पलें पहनकर पतलून पगड़ी से सुसज्जित अपूर्व गांव के कीचड़ वाले रास्ते को बहुत सावधानी के साथ पार करता हुआ अपने घर की ओर चल दिया।

तालाब के किनारे सुनसान पथ पर पहुंचते ही सहसा फिर उसे वही जोर का परिहासात्मक स्वर सुनाई दिया। मानो वृक्ष और पल्लवों की ओट में से कौतुकप्रिया वनदेवी ही अपूर्व की उन पुरानी चप्पलों को देखकर एकाएक हंस पड़ी हो।

अपूर्व कुछ लज्जित-सा होकर ठिठक गया और इधर-उधर देखने लगा। इतने में सघन झाड़ियों में से निकलकर किसी निर्लज्ज अपराधिनी ने उसके सामने उसके नए जूते रख दिए और चट से बाहर जाने के लिए उद्यत हुई कि अपूर्व ने उसके दोनों हाथ पकड़कर उसे अपनी कैद में ले लिया।

मृगमयी ने यथा-शक्ति टेढ़ी-तिरछी होकर पूरी शक्ति का प्रयोग करके भागने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। घुंघराले केशों से घिरे हुए उसके गोल-मटोल चेहरे पर सूर्य की किरणें वृक्षों की डालियों और पल्लवों में से छन-छनकर पड़ने लगीं। कौतूहलता से वशीभूत होकर कोई पथिक जिस प्रकार दिवाकर की किरणों से चमकती हुई स्वच्छ चंचल निर्झरणी की ओर झुककर टकटकी लगाकर उसकी तली को देखता रहता है, ठीक उसी तरह अपूर्व ने मृगमयी के ऊपर उठे चेहरे पर तनिक झुककर उसकी खंजन-सी चंचल आंखों के भीतर गहरी दृष्टि फेंककर देखा और फिर बहुत धीमे से उसे अपने बंधन से मुक्त कर दिया। अपूर्व क्रोधित मुद्रा में मृगमयी को पकड़कर मारता तो उसे तनिक भी अचम्भा न होता, किंतु इस प्रकार सुनसान पथ में इस अनोखी सजा का वह कुछ अर्थ ही न समझ सकी।

नर्तन करती हुई प्रकृति नटी के नुपूरों की झंकार की भांति फिर वही हास्य-ध्वनि उस नीरव पथ में गूंज उठी और चिंतातुर अपूर्व धीरे-धीरे पग उठाता हुआ घर की ओर चल दिया।

अपूर्व उस दिन अनेक प्रकार के बहाने बनाकर न तो घर के अंदर गया और न ही उसने मां से भेंट की। किसी के यहां भोज का निमंत्रण था, वहीं खा आया।

अपूर्व जैसा पढ़ा-लिखा और भावुक नवयुवक एक मामूली पढ़ी-लिखी लड़की के मुकाबले अपने छिपे हुए गौरव का बखान करने और उसे आंतरिक महत्ता का पूर्ण परिचय देने के लिए क्यों इतना आतुर हो उठा, यह समझना कठिन है? एक निरी गांव की चंचल बाला ने उसे मामूली नवयुवक समझ ही लिया तो क्या हो गया? और उसने पल-भर के लिए अपूर्व का परिहास करके और फिर उसके अस्तित्व को किसी ताक पर रखकर, राखाल नामक अबोध बच्चे के साथ खेलने के लिए इच्छा प्रकट की तो उसमें अपूर्व का बिगड़ ही क्या गया?

इन बच्चों के सामने उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता ही क्या है कि वह विश्वदीप मासिक पत्र में पुस्तकों की समालोचना लिखा करता है और उसके सूटकेस में एसन्स, जूते, रुबिनी के कैम्फर, पत्र लिखने के रंगीन कागज और 'हारमोनियम शिक्षा' पुस्तक के साथ एक पूरी लिखी हुई प्रेस कापी, यामिनी के गर्भ में भावी उषा की तरह, प्रज्वलित होने की राह देख रही है, परंतु मन को समझाना कठिन है। कम-से-कम इस देहाती चंचल लड़की के सामने श्री अपूर्व कुमार बी.ए. हार मानने के लिए किसी प्रकार भी तैयार नहीं।

संध्या को अपूर्व जब घर के भीतर पहुंचा तो उसकी मां ने पूछा—"क्यों रे, लड़की देख आया? कैसी है? पसंद है न?"

अपूर्व ने कुछ लजाते हुए उत्तर दिया—"हां, देख तो आया मां, उनमें से मुझे एक ही लड़की पसंद है।"

मां ने तनिक कुछ आश्चर्यचकित स्वर में पूछा—"तूने कितनी लड़कियां देखी थीं वहां?"

अंत में दो-चार प्रश्नोत्तर के बाद मां को मालूम हुआ कि उसके लड़के ने पड़ोसन शारदा की लड़की मृगमयी पसंद की है। इतना पढ़-लिखकर भी यह पसंद!

परिणाम यह निकला कि कमबख्त अड़ियल टट्टू की तरह गर्दन टेढ़ी करके, कुछ पीछे को उठकर वे कह बैठीं—"मैं उससे तेरा ब्याह नहीं करूंगी, जाओ।"

इस पर भी उसे ब्याह करना ही पड़ा।

उसके बाद अध्ययन शुरू हुआ। अपूर्व की मां के घर जाकर एक ही रात में मृगमयी की अपनी सारी दुनिया ने बेड़ियां पहन लीं।

सास ने वधू का सुधार करना आरम्भ कर दिया। बहुत ही कठोर मुद्रा बनाकर उससे बोलीं—"देखो बेटी, अब तुम बच्ची नहीं रही...हमारे घर में ऐसी बेहयाई नहीं चल सकेगी।"

सास ने यह बात जिस भाव से कही, मृगमयी ठीक उसे उसी रूप में न समझ सकी। उसने विचारा कि इस घर में यदि न चले तो शायद कहीं दूसरी जगह जाना पड़ेगा। मध्याह्न के बाद वह घर में नहीं दिखाई दी। 'कहां गई? कहां गई?' शोर मच गया। ढूंढ़ शुरू हुई। अंत में विश्वासघातक राखाल ने उसके गुप्त स्थान का पता बताकर, उसे कैद करवा ही दिया। वह बड़-वृक्ष के नीचे श्री राधाकांतजी के टूटे रथ में जाकर छिप गई थी।

सभी के सामने मां ने और पास-पड़ोस की गृह-स्त्रियों ने उसे कितना डांटा-फटकारा और लज्जित किया होगा, इसकी कल्पना स्वयं आप ही कर लें तो अच्छा हो।

रात्रि को खूब घनघोर घटाएं छा गईं और रिमझिम-रिमझिम पानी बरसने लगा। अपूर्व ने धीरे-से मृगमयी के पास शय्या पर जाकर उसके कान में धीमे स्वर में कहा—"मृगमयी! क्या तुम मुझे प्यार नहीं करतीं?"

मृगमयी ने तत्काल ही कड़ककर उत्तर दिया—"नहीं, मैं तुम्हें हर्गिज प्यार नहीं कर सकती।"

मानो उसने सारी गुस्से की पोटली अपूर्व के सिर पर दे मारी।

"क्यों, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?" अपूर्व ने खिन्न स्वर में पूछा।

इस दोष की संतोषजनक कैफियत देना तो कठिन है। अपूर्व ने मन-ही-मन कहा—'इस विद्रोह-मन को जैसे भी हो, वश में करना ही होगा।'

अगले रोज सास ने मृगमयी में विद्रोह भाव के सब लक्षण देखकर उसे अंदर के कोठे में बंद कर दिया। पिंजड़े में फंसी नई चिड़िया की तरह पहले तो वह कोठे के अंदर फड़फड़ाती रही, अंत में जब कहीं से भी भागने का मार्ग दिखाई न दिया तो क्रोध से उन्मत्त होकर बिछौने की चादर की धज्जियां उड़ा दीं और जमीन पर औंधी गिर पड़ी और मन-ही-मन पिता की याद करके रोने-चिल्लाने लगी।

ठीक इसी समय धीरे-से कोई उसके समीप आकर बैठ गया और बड़े स्नेह से उसके धूल-धूसरित केशों को कपोलों पर से एक ओर हटा देने का प्रयत्न करने लगा। मृगमयी ने बड़े जोर से अपना सिर हिलाकर उसका हाथ हटा दिया।

अपूर्व ने उसके कानों के पास अपना मुंह ले जाकर बहुत ही कोमल स्वर में कहा—"मैंने चुपके से द्वार खोल दिया है, चलो, अपने पीछे के बगीचे में चलें।"

मृगमयी ने इंकार में जोर से सिर हिलाते हुए कहा—"नहीं।"

अपूर्व ने उसकी ठोड़ी पकड़कर उसका मुंह ऊपर को उठाना चाहा और बोला—"एक बार देखो तो सही कौन आया है?"

राखाल जमीन पर औंधी लेटी हुई मृगमयी को घूरता हुआ हत्बुद्धि-सा होकर द्वार पर खड़ा था। मृगमयी ने बिना मुंह उठाए ही अपूर्व का हाथ झटककर अलग कर दिया।

अपूर्व ने कहा—"देखो राखाल तुम्हारे साथ खेलने आया है, इसके साथ खेलने नहीं जाओगी?"

उसने कुपित स्वर में कहा—"नहीं।"

राखाल ने भी देखा कि मामला कुछ संगीन है। वह किसी प्रकार वहां से निकलकर जान बचाकर भाग गया। अपूर्व चुपचाप बैठा रहा। जब मृगमयी आंसू बहाकर सो गई, तब वह चुपके से उठा और द्वार की सांकल लगाकर दबे पांव वहां से चला गया।

अगले दिन मृगमयी ने सास के पास जाकर कहा—"मैं पिताजी के पास जाऊंगी।"

सास ने अनायास ही वधू की इस असम्भव प्रार्थना को सुनकर उसे फटकार दिया और बोली—"पिता का कहीं ठौर-ठिकाना भी है कि ऐसे ही पिताजी के पास जाएगी। तेरा तो हर काम दुनिया से निराला ही है। ऐसा लाड़ मुझे पसंद नहीं।"

वधू ने कोई उत्तर नहीं दिया? अपने कमरे में जाकर उसने भीतर से द्वार बंद कर लिया और बिल्कुल निराश मानव जिस प्रकार देवी-देवताओं से प्रार्थना करता है, उस तरह वह कहने लगी—'पिताजी! तुम मुझे यहां से ले जाओ। यहां मेरा कोई नहीं है? मैं यहां जीवित न रह सकूंगी।'

अधिक रात बीत जाने पर जब उसके पति नींद में खो गए, तब वह चुपके से द्वार खोलकर बाहर चल दी। वास्तव में बीच-बीच में मेघों की गर्जना सुनाई देती थी, फिर भी बिजली की रोशनी में रास्ता दिखाई देने लायक काफी रोशनी थी। पिताजी के पास जाने के लिए कौन-से रास्ते को पकड़ना चाहिए, मृगमयी को कुछ भी पता न था। उसे तो केवल इतना ही विश्वास था कि जिस रास्ते से पत्रवाहक डाक लेकर जाते हैं, उसी मार्ग से दुनिया के किसी भी ठिकाने पर पहुंचा जा सकता है? मृगमयी भी उसी रास्ते पर चलती रही।

चलते-चलते उसका शरीर चूर-चूर हो गया, रात्रि का लगभग अंतिम पहर भी खत्म हो चला। वन के दो-चार पक्षी पंख हिला-हिलाकर अनिश्चित स्वर में बोलना चाहते थे और समय का पूर्ण निर्णय न कर सकने के कारण दुविधा में फंसकर चुप रह जाते थे। उस समय मृगमयी सड़क के किनारे नदी के तट पर स्थित बाजार में पहुंची। वहां पहुंचकर वह विचार कर रही थी कि अब

किस ओर चलना चाहिए। इतने में उसे परिचित 'झमझम' की आवाज सुनाई दी। थोड़ी देर में कंधे पर चिट्ठियों का थैला लटकाए हांफता हुआ पत्रवाहक उसके पास आ पहुंचा।

मृगमयी जल्दी से उसके पास जाकर करुण स्वर में बोली—"कुशीगंज में पिताजी के पास जाऊंगी, तुम मुझे साथ ले चलो न।"

"कुशीगंज कहां है? वह मुझे नहीं मालूम।" उसने उत्तर दिया।

छोटा-सा उत्तर देकर वह घाट पर जा पहुंचा और घाट पर बंधी हुई डाक की नाव में बैठकर नाविक को जगाकर नौका खुलवा दी। उस समय उसे किसी पर दया करने या पूछताछ करने की फुरसत नहीं थी।

देखते-देखते बाजार और घाट सजग हो गए। मृगमयी ने घाट पर पहुंचकर एक नाविक से कहा—"मुझे कुशीगंज पहुंचा सकोगे?"

उस नाविक के उत्तर देने से पहले ही बगल की नौका पर से कोई बोल उठा—"अरे! कौन है? मृगी बिटिया! तू यहां कैसे आई?"

मृगमयी ने व्यग्रता से उत्तर दिया—"बनमाली! मैं पिताजी के पास कुशीगंज जाऊंगी, तू अपनी नाव में मुझे ले चल।"

बनमाली उसके गांव का ही नाविक था। वह उस उच्छृंखल मानवी को भली-भांति पहचानता था।

"बाबूजी के पास जाएगी बिटिया। बड़ी अच्छी बात है। चल, मैं तुझे पहुंचा दूं।" वह बोला।

मृगमयी उसकी नाव में जा बैठी।

नाविक ने नाव खोल दी। मेघों ने बरसना शुरू कर दिया। सावन-भादो के समान पूरी चढ़ी हुई नदी के थपेड़े नाव को जोर से हिलाने लगे। मृगमयी का सारा शरीर थकावट और नींद के मारे टूटने लगा। उसकी आंखें नींद से बोझिल हो गईं और वह आंचल बिछाकर लेट गई। लेटते ही वह चंचल नवयौवना नदी के हिंडोले में प्रकृति की स्नेह छाया में पले शिशु की तरह बेधड़क होकर सो गई।

आंख खुली तो देखा कि वह अपनी ससुराल में पड़ी सो रही है। उसे जागते देखकर महरी बड़बड़ाने लगी। उसका बड़बड़ाना सुनकर सास भी आ पहुंची और जो मन में आया, वही कहा। मृगमयी आंखें फाड़-फाड़कर शांत होकर उनके मुख की ओर देखती रही। अंत में सास ने भी जब उसके पिता की शिक्षा पर व्यंग्य करना शुरू कर दिया, तब मृगमयी ने जल्दी से उठकर, बगल की कोठरी में घुसकर अंदर से द्वार बंद कर लिए।

अपूर्व ने शर्म-लिहाज को बिल्कुल ही ताक पर रखकर मां से कहा—"मां! वधू

को दो-चार दिन के लिए उसके घर भेज देने में कोई हर्ज की बात तो नहीं?"

मां ने अपूर्व को बुरी तरह आड़े हाथों लिया और बोली—"नपूते! दुनिया में इतनी लड़कियां होते हुए भी न जाने कहां से छांटकर ऐसी मुसीबत को मेरी छाती पर बिठा दिया।"

अपूर्व को निर्दोष होते हुए भी इस प्रकार के कटु शब्द सुनने पड़े।

उस रोज सारे दिन घर के बाहर बूंदा-बांदी और अंदर आंसुओं की वर्षा होती रही।

अगले दिन अर्द्धरात्रि को अपूर्व ने मृगमयी से धीरे-से जाकर पूछा—"मृगमयी! क्या तुम अपने पिताजी के पास जाना चाहती हो?"

मृगमयी ने चौंककर जल्दी से अपूर्व का हाथ पकड़कर कृतज्ञ कंठ से उत्तर दिया—"हां।"

तब अपूर्व ने चुपके से कहा—"तो चलो, हम दोनों चोरी-चोरी भाग चलें। मैंने घाट पर नाव को तैयार कर रखा है।"

मृगमयी ने इस बार कृतज्ञ दृष्टि से अपूर्व की ओर देखा और उसके तुरंत बाद उठकर कपड़े बदले और चलने के लिए उद्यत हो गई। मां को किसी प्रकार की फिक्र न हो, इसलिए अपूर्व ने एक पत्र लिखकर रख दिया और रात्रि के नीरव पहर में दोनों प्राणी घर से निकल पड़े।

मृगमयी ने उस नीरव और शांत अंधेरी रात में पहली बार अपने मन से पूर्ण अवस्था एवं विश्वास के साथ पति का हाथ पकड़ा। उसके अपने ही हृदय का उद्वेग उस स्पर्श मात्र से अपूर्व की नसों में भी संचारित होने लगा।

नाव रात्रि के उसी नीरव पहर में वहां से चल दी। अकस्मात खुशी के होते हुए भी मृगमयी को बहुत जल्दी ही नींद ने आ दबाया। अगले दिन उसके चारों ओर आनंद-ही-आनंद था। दोनों ओर कितने ही बाजार, खेत और जंगल दिखाई दे रहे थे। इधर-उधर कितनी ही नौकाएं आ-जा रही थीं। मृगमयी उन्हें देखकर पूछने लगी—"उस नौका पर क्या है? ये लोग कहां से आ रहे हैं, इस स्थान को क्या कहते हैं?"

ये सवाल ऐसे पेचीदा थे, जो अपूर्व ने कभी कॉलेज की किताबों में कहीं नहीं पढ़े थे और उसके कोलकाता जैसी महानगरी के तजुर्बे से बाहर थे। फिर भी उसके मन को संतुष्ट करने के लिए अपूर्व ने जो भी उत्तर दिए, वे सब मृगमयी को बहुत अच्छे लगे।

दूसरी संध्या को नौका कुशीगंज के घाट पर जा लगी। पास में ही टीन के एक

छोटे से झोंपड़े में, मैली-सी धोती बांधे, कांच की भद्दी लालटेन जलाकर, छोटे-से डेस्क पर एक चमड़े की जिल्द वाला बड़ा-सा रजिस्टर रखकर, नंगे बदन स्टूल पर बैठे ईशानचन्द्र कुछ लिख रहे थे। इसी समय इस नव-दंपती ने झोंपड़े में प्रवेश किया। मृगमयी ने पुकारा—"पिताजी!"

उस झोंपड़ी में आज तक ऐसी मृदु ध्वनि इस प्रकार से पहले और कभी नहीं सुनाई दी थी।

ईशान के नेत्रों से टप-टप आंसू गिरने लगे। उस समय वे निश्चय न कर सके कि उन्हें क्या करना चाहिए। उनकी बिटिया और दामाद मानो साम्राज्य के युवराज और युवराज्ञी हैं। यहां पटसन के ढेर के बीच में उनके बैठने लायक स्थान कैसे बनाया जा सकता है? इसका निर्णय करने हेतु उनकी भटकती हुई बुद्धि और भी भटक गई और खाने-पीने का प्रबंध? यह भी दूसरी चिंता की बात थी। निर्धन बाबू अपने हाथ से दाल-भात पकाकर किसी प्रकार पेट भर लेते हैं, पर आज इस खुशी के अवसर पर क्या खिलाएं और क्या करें?

मृगमयी पिता को असमंजस में देखकर फौरन बोली—"पिताजी! आज हम सब मिलकर रसोई तैयार करेंगे।"

अपूर्व ने भी इस नवीन प्रस्ताव पर उत्साह प्रकट किया। उस छोटी-सी झोंपड़ी में स्थान की कमी, आदमी की कमी और अन्न की भी बहुत कमी थी, लेकिन छोटे-से छिद्र में से जिस प्रकार फव्वारा चौगुने वेग से छूटता है, उसी प्रकार निर्धनता के सूक्ष्म सुराख से खुशी का फव्वारा तीव्रता से छूटने लगा।

इसी प्रकार तीन दिन बीत गए। दोनों समय नियमित रूप से जब स्टीमर आता, यात्रियों का आना-जाना और शोरगुल सुनाई देता था, लेकिन संध्या के समय नदी का तट बिल्कुल सुनसान हो जाता, तब अपूर्व एक अनोखी स्वतंत्रता का अनुभव किया करता।

तीनों मिलकर कहीं-की-कहीं रसोई तैयार करते थे। उसके बाद नई-नई चूड़ियों से भरे हाथों से उसका परोसा जाना, श्वसुर और जामाता का सम्मिलित रूप से भोजन करना और नई गृहिणी के भोजन की त्रुटियों पर परिहास किया जाना, इस पर मृगमयी का अभिमान करना, इन सब बातों से सबका मन पुलकित हो उठता था।

अंत में अपूर्व ने कहा कि अब अधिक दिन ठहरना उचित नहीं। मृगमयी ने कुछ और दिन ठहरने की प्रार्थना की, लेकिन ईशान बाबू ने कहा—"नहीं, अब और रुकना उचित नहीं।"

विदा की बेला पर बिटिया को छाती से लगाकर उसके माथे पर स्नेहसिंचित

हाथ रखकर अश्रुमिश्रित स्वर में ईशानचन्द्र ने कहा—"बिटिया, तू अपनी ससुराल में ज्योति जगाना, लक्ष्मी बनकर रहना...जिससे मेरी दी गई शिक्षा में कोई दोष न निकाल सके।"

मृगमयी आंसू बहाती हुई अपने पति के साथ विदा हो गई और ईशान बाबू अपनी उसी झोंपड़ी में लौटकर उसी पुराने नियम के अनुसार माल तोलकर दिन-पर-दिन और मास-पर-मास बिताने लगे।

दोनों अपराधियों की युगल जोड़ी जब घर पहुंची तो मां नाराज होकर गम्भीर बनी रही, किसी से कुछ बात नहीं की? मां की ओर से किसी के व्यवहार में कोई दोष ही प्रदर्शित नहीं किया गया कि जिसकी सफाई के लिए दोनों में से कोई कुछ प्रयत्न करता? इस शांत अभियोग ने इस मूक अभियान ने, पर्वत की तरह सारी घर-गृहस्थी को अटल होकर दबाए रखा।

जब यह सहन शक्ति से बाहर की बात हो गई तो अपूर्व ने मां से कहा—"मां, कॉलेज खुल गया है, अब मुझे कानून पढ़ने जाना है।"

मां ने कुछ उदासीनता प्रकट करते हुए कहा—"बहू का क्या करोगे?"

अपूर्व ने चकित होकर कहा—"यहीं रहेगी!"

मां ने उत्तर दिया—"ना बेटा, यहां पर उसकी जरूरत नहीं। उसे तुम अपने साथ ही लेते जाओ।"

अपूर्व ने अभिमान पीड़ित स्वर में कहा—"जैसी इच्छा।"

मां कोलकाता लौटने की तैयारी करने लगी। चलने से पहली रात को अपूर्व जब अपने कमरे में विश्राम के लिए गया तो देखा कि मृगमयी शय्या पर पड़ी रो रही है।

अनायास ही उसके हृदय को चोट पहुंची। वह गंभीर स्वर में बोला—"मृगमयी! मेरे साथ महानगरी चलने के लिए तुम्हारा मन नहीं चाहता क्या?"

मृगमयी ने उत्तर दिया—"नहीं।"

"क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं?" अपूर्व ने पुनः पूछा।

इस प्रश्न का कुछ भी उत्तर न मिला। विशेषतया इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर बहुत ही सरल हुआ करता है, किंतु कभी-कभी इसके अंदर मनःस्तर की इतनी जटिलता होती है कि कन्या से ठीक वैसे उत्तर की आशा नहीं की जा सकती।

"राखाल को छोड़कर यहां से चलने की इच्छा नहीं होती है क्या?" अपूर्व ने प्रश्न किया।

"हां।" मृगमयी ने बड़ी सुगमता से उत्तर दिया।

इसे सुनकर बी.ए. पास अपूर्व के हृदय में सुई के बराबर बालक राखाल के प्रति ईर्ष्या का अंकुर उठ खड़ा हुआ। वह बोला—"बहुत दिनों तक गांव नहीं लौट सकूंगा। शायद दो-ढाई साल या इससे भी अधिक समय लग जाए।"

इस विषय में कुछ न कहकर मृगमयी बोली—"वापस आते समय राखाल के लिए एक बढ़िया-सा राजस का चाकू लेते आना।"

अपूर्व लेटा हुआ था, तनिक उठकर बोला—"तो तुम यहीं रहोगी।"

"हां, अपनी मां के पास जाकर रहूंगी।" मृगमयी ने उत्तर दिया।

अपूर्व ने ठंडी-सी उच्छवास छोड़ी और बोला—"अच्छा, वहीं रहना। अब जब तक बुलाने की चिट्ठी नहीं लिखोगी, मैं नहीं आऊंगा। अब तो खुश हो न?"

मृगमयी ने इस प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ समझा और सोने लगी, किंतु अपूर्व को नींद नहीं आई, तकिया ऊंचा करके उसके सहारे बैठा रहा।

रात्रि के अंतिम पहर में सहसा चंद्रमा दिखाई दिया और उसकी चांदनी बिस्तर पर आकर फैल गई। अपूर्व ने उस रोशनी में मृगमयी के चेहरे की ओर देखा। देखते-देखते उसे ऐसा महसूस हुआ कि रूप कथा की शहजादी को किसी ने चांदी की छड़ी छुआकर अचेत कर दिया हो। एक बार फिर सोने की झड़ी छुआते ही सोती हुई को जगाकर उससे बदली की जा सकती है। चांदी की छड़ी परिहास है और सोने की छड़ी कुंदन।

भोर से पहले ही अपूर्व ने मृगमयी को जगा दिया और बोला—"मृगमयी! मेरे चलने का समय आ गया है। चलो, मैं तुम्हें तुम्हारी मां के पास छोड़ आऊं।"

मृगमयो बिस्तर से उठकर चलने के लिए तैयार हो गई तो अपूर्व ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर कहा—"अब एक विनती और है, मैंने कितने ही अवसरों पर तुम्हारी सहायता की है, आज परदेश जाते समय क्या तुम मुझे उसका इनाम दे सकोगी?"

मृगमयी ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या?"

"स्वेच्छा से केवल एक चुम्बन दे दो।" अपूर्व ने कहा।

अपूर्व की इस अनोखी विनती और शांत चेहरे को देखकर मृगमयी हंसने लगी और फिर बड़ी कठिनाई से हंसी रोककर वह चुम्बन देने के लिए आगे बढ़ी। अपूर्व के मुंह के पास मुंह ले जाकर उससे रहा न गया, खिलखिलाकर हंस पड़ी। इस प्रकार दो बार किया और अंत में शांत होकर आंचल से मुंह ढककर हंसने लगी। जब कुछ न बन पड़ा, तब अपूर्व ने डांटने के बहाने उसके कान खींच दिए।

अपूर्व ने भी भीष्म प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वह कभी भी मृगमयी से

जबरदस्ती कुछ नहीं लेगा, क्योंकि इसमें वह अपना अपमान समझता था। उसकी इच्छा थी कि वह देवताओं के समान सगौरव रहकर स्वेच्छा से भेंट किए हुए उपहार को पाए और अपने हाथ से उठाकर कुछ भी न ले।

मृगमयी फिर न हंसी। अपूर्व उसे उषा की प्रथम किरणों में निर्जन पथ से उसकी मां के घर छोड़ आया और फिर लौटकर मां से बोला—"मां! बहुत सोच-विचारकर मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि वधू को कोलकाता ले जाने से पढ़ाई में बहुत नुकसान होगा और फिर उसकी वहां कोई सहेली भी तो नहीं है...तुम तो उसको अपने पास रखना नहीं चाहतीं। इसलिए मैं उसे उसके घर छोड़ आया हूं।"

इस प्रकार गर्व में चूर मां पुत्र का विच्छेद हुआ।

मां के घर पहुंचकर मृगमयी को पता लगा कि अब यहां उसका किसी प्रकार मन ही नहीं लगता है? उस घर में न जाने कौन-सा परिवर्तन आ गया है कि समय काटे नहीं कटता। क्या करे, कहां जाए, किससे मिले, उसकी कुछ भी समझ में नहीं आया।

कुछ दिनों में ही मृगमयी को कुछ ऐसा लगने लगा कि घर-बार और गांव-भर में कोई आदमी ही नहीं है? अब कोलकाता जाने को उसका मन इतना आतुर क्यों है, पहले ऐसा क्यों नहीं था? यह उलझन उसकी समझ में नहीं आई। उसने वृक्ष के शुष्क पत्ते के समान ही टहनी से गिरे हुए उस अतीत जीवन को आज अपनी इच्छा से अनायास ही दूर फेंक दिया।

प्राचीन कथाओं में सुना जाता है कि पहले निपुण अस्त्रकार ऐसी बारीक खड्ग बना सकते थे कि जिससे आदमी को काटकर दो टुकड़े कर देने पर भी उसे मालूम नहीं पड़ता और जब उसे हिलाया जाता था तो उसके दो टुकड़े हो जाते थे। विधाता की खड्ग ऐसी ही सूक्ष्म है कि कब उन्होंने मृगमयी के बचपन और जवानी के बीच वार किया, वह जान ही न सकी। आज न जाने कैसे तनिक हिल जाने से उसका बचपन जवानी से अलग जा गिरा और तब वह आश्चर्यचकित होकर देखती ही रह गई। मायके में उसकी वह चिर-परिचित कोठरी उसे अपनी नहीं महसूस हुई। जो मृगमयी वहां काम करती थी, अब मालूम हुआ कि वह वहां रही ही नहीं। अब उसके हृदय की सारी स्मृति एक-दूसरे ही घर में, दूसरे ही कमरे में, दूसरी ही शय्या के आस-पास गूंजती हुई उड़ने लगी। मृगमयी अब बाहर नहीं दिखाई पड़ती, उसकी हास्य-ध्वनि अंदर ही घुटकर रह जाती। उसका बचपन का साथी राखाल ही उसे देखकर त्रस्त होकर भाग जाता, खेलकूद की बात तो अब उनके मन में भी नहीं आती।

मृगमयी ने अपनी मां से कहा——"मां! मुझे मेरी सासू मां के घर ले चल।"

उधर कोलकाता जाते समय बेटे की उदासीनता को याद करके मां का हृदय दुखी हो रहा था। क्रोध में आकर वह वधू को उसके घर छोड़ आया, यह बात उसके मन में सुई की तरह चुभने लगी।

इतने में एक दिन घूंघट डाले मृगमयी आ पहुंची। उसका चेहरा मुरझा-सा गया था। उसने सास के चरणों का स्पर्श किया। आशीष देने के स्थान पर सास की आंखों में आंसू आ गए और उसी क्षण उन्होंने मृगमयी को उठाकर अपने जलते हुए कलेजे से लगा लिया। उसी क्षण दोनों का मिलाप हो गया। मृगमयी के चेहरे की ओर निहारकर सास को बड़ा आश्चर्य हुआ। अब वह पहली मृगमयी नहीं रही थी, ऐसा परिवर्तन तो कतिपय सबके लिए सम्भव नहीं। ऐसे परिवर्तनों के लिए बड़ी ताकत की आवश्यकता होती है। सास ने बहुत सोच-समझकर निश्चय किया था कि वह वधू के सारे दोषों को धीरे-धीरे दूर करेगी, किंतु यहां तो पहले से ही किसी विशेष सुधारक ने उसे नव-जीवन दे डाला था।

अब वधू ने सास को अच्छी तरह पहचान लिया और सास ने उसको। मृगमयी के हृदय में आषाढ माह के सजल बादलों के समान आंसुओं से पूर्ण गर्व उमड़ने लगा। उस गर्व ने उसकी बड़ी-बड़ी आंखों की छायादार घनी पलकों पर और भी गहरा आवरण डाल दिया। वह मन-ही-मन अपूर्व से कहने लगी——'मैं अब तक अपने को समझ न सकी तो न सही, पर तुमने मुझे क्यों नहीं समझने का प्रयत्न किया। तुमने मुझे दण्ड क्यों नहीं दिया? तुमने अपनी इच्छा के वशीभूत होकर मुझे क्यों नहीं चलाया? मुझ डायन ने जब तुम्हारे साथ महानगरी चलने को इंकार किया, तो तुम मुझे जबरदस्ती पकड़कर क्यों नहीं ले गए? तुमने मेरा कहना क्यों पूरा किया? मेरे हठ के आगे क्यों झुके? मेरी आज्ञा को क्यों सहन किया?'

इसके उपरांत फिर उसे उस दिन की याद आई, जब पहले पहल जिस दिन अपूर्व सवेरे तालाब के किनारे सुनसान रास्ते से उसे बंदी बनाकर मुंह से कुछ न कहकर केवल उसके मुख की ओर निहारता रहा था। उस दिन के उस तालाब की, उस पथ की, वृक्ष के नीचे उस छाया की, भोर की, उस सुनहरी धूप की, हृदय भार से झुकी हुई उस गहरी चितवन की स्मृति उसके मानस-पटल पर छा गई और सहसा उसका पूरा-पूरा अर्थ अब उसकी समझ में आ गया। इसके उपरांत विदा की बेला पर जिस चुंबन को वह अपूर्व के होंठों तक ले जाकर लौटा लाई थी, वह अधूरा चुम्बन अब मरु-मरीचिका की ओर तृषित मृग की तरह उत्तरोत्तर तीव्रता के साथ उन बीते हुए दिनों की ओर उड़ान भरने लगा, किंतु

उसकी तृष्णा किसी प्रकार भी न मिट सकी। अब रह-रहकर उसके मन में यही बातें उठा करतीं यदि उस समय तू ऐसा करती, उनकी बात का यदि ऐसा उत्तर देती, तब ऐसा करती तो उचित होता।

अपूर्व के मन में इस बात का बड़ा दुख रहा कि मृगमयी ने उसे अच्छी तरह पहचाना नहीं और मृगमयी ने भी आज बैठे-बैठे यही सोचा कि उन्होंने उसे क्या समझा होगा, क्या सोचते होंगे? अपूर्व ने उसे पाषाणी, चंचल, उद्दण्ड, नादान लड़की समझ लिया होगा। लबालब भरे हुए तरलामृत की धारा से अपनी प्रेम तृष्णा मिटाने में उसे समर्थ नवयौवना नहीं जाना। इस वेदना के कारण धिक्कार के मारे वह लज्जा से धरा में धंसी जा रही थी और प्रियतम के चुम्बन और सुहाग से उस ऋण को वह अपूर्व के तकिए को दे-देकर ऋण मुक्त होने का प्रयत्न करने लगी।

इसी प्रकार काफी दिन बीत गए।

चलते समय अपूर्व कह गया था कि जब तक तुम्हारा पत्र नहीं आएगा, तब तक मैं नहीं आऊंगा। मृगमयी इसी बात को याद कर, कमरे का द्वार बंद करके एक दिन उसे पत्र लिखने के लिए बैठी। अपूर्व ने जो सुनहरी किरणों के कागज दिए थे, उन्हें निकालकर बैठी-बैठी विचारने लगी कि क्या लिखे? बड़े यत्न के बाद हाथ जमाकर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं अंकित कर ही उंगलियों में स्याही पोतकर छोटे-बड़े अक्षरों में ऊपर संबोधन बिना किए ही एकदम लिख दिया—'तुम मुझे चिट्ठी क्यों नहीं भेजते? तुम कौन हो? घर चले आओ।' और क्या होना चाहिए, वह सोचकर भी किसी निर्णय पर न पहुंच सकी? अंत में उसने कुछ विचार कर लिया और पुनः लिखा—'अब मुझे चिट्ठी लिखना और कैसे रहते हो, सो लिखना। घर जल्दी आना, सब अच्छी तरह हैं और कल हमारी काली गाय के बछड़ा हुआ है।'

इतना लिखकर चिट्ठी लिफाफे में बंद की और फिर हृदय के प्यार से सिंचित शब्दों में लिख दिया श्रीयुत अपूर्व कुमार राय। प्यार चाहे कितना ही उड़ेला गया हो, किंतु तो भी रेखा सीधी, अक्षर सुंदर और लिखावट सही नहीं हुई।

लिफाफे पर नाम के अलावा और कुछ लिखना भी आवश्यक है, मृगमयी इस बात से परिचित न थी।

कहीं सास या कोई और न देख ले, इस भय से लिफाफे को विश्वस्त दासी के हाथ डाक में डलवा दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस पत्र का कुछ फल नहीं निकला और अपूर्व घर नहीं लौटा।

मां ने जब देखा कि कॉलेज बंद हो गया, फिर भी अपूर्व घर नहीं आया तो सोचा—'अब भी वह गुस्से में है।' मृगमयी ने भी समझ लिया कि अपूर्व उससे

गुस्सा कर रहा है और तब वह अपने पत्र की याद करके मारे लज्जा के गड़ जाने लगी—'वह पत्र उसका कितना तुच्छ और छोटा था। उसमें तो कोई बात ही नहीं लिखी गई, उसने अपने मन के भाव तो उसमें लिखे ही नहीं...फिर उनका ही क्या दोष?'

यह सोचकर वह तीर से बिंधे शिकार की तरह भीतर-ही-भीतर तड़पने लगी। दासी से उसने कई बार पूछा—"क्या तू उस पत्र को डाक में डाल आई थी?"

दासी ने उसे कितनी ही बार समझाया—"हां, बहूजी! मैं खुद चिट्ठी को डिब्बे में डाल आई हूं। बाबूजी को वह मिल भी गई होगी।"

अंत में अपूर्व की मां ने मृगमयी को पास बुलाकर पूछा—"बहू, वह बहुत दिनों से घर नहीं आया, मन चाहता है कि कोलकाता जाकर उसे देख आऊं, क्या तुम साथ चलोगी?"

मृगमयी मुंह से कुछ न कह सकी, परंतु स्वीकृति के रूप में सिर हिला दिया और अपने कमरे में जाकर तकिए को छाती से लगाकर, इधर-से-उधर करवटें बदलकर हृदय के आवेश को दबाकर हल्की होने का प्रयत्न करने लगी और इसके बाद भावी आशंका के विषय में सोचकर रोने लगी।

अपूर्व को सूचित किए बिना ही दोनों उसकी शुभ कामना चाहती हुई कोलकाता को चल दीं।

अपूर्व की मां कोलकाता में अपने दामाद के यहां ठहरी। उसी दिन संध्या को अपूर्व मृगमयी के पत्र की आस छोड़कर और वचन को भंग करके स्वयं ही पत्र लिखने के लिए बैठा था, तभी उसे अपने जीजाजी का पत्र मिला—

*'तुम्हारी मां आई हैं। जल्दी आकर मिलो और रात का भोजन यहीं करना, बाकी समाचार सब ठीक है।'*

इतना पढ़ने पर भी उसका मन किसी अमंगल सूचना की आशंका करके घबरा उठा। वह तुरंत ही कपड़े बदलकर जीजाजी के घर की ओर चल दिया। मिलते ही उसने मां से पूछा—"मां! सब मंगल तो हैं?"

"सब देवी की कृपा है। छुट्टियों में तू घर क्यों नहीं आया, इसीलिए मैं तुझे लेने आई हूं?" मां ने जवाब दिया।

अपूर्व ने कहा—"मेरे लिए इतनी तकलीफ उठाने की क्या जरूरत थी मां! मैं तो कानून की परीक्षा के कारण...।"

"भैया! उस समय भाभी को तुम साथ ही क्यों नहीं लेते आए।" ब्यालू करते समय दीदी ने पूछा।

"कानून की पढ़ाई थी दीदी!" अपूर्व ने गंभीरता के साथ कहा।

जीजा ने हंसकर कहा—"ये सब तो बहाना है, असल में हमारे डर से लाने की हिम्मत नहीं पड़ी।"

"बड़े डरपोक निकले भैया। कहीं इस डर से बुखार तो नहीं चढ़ा।" दीदी बोली।

इस तरह हंसी-मजाक चलने लगा, परंतु अपूर्व वैसे ही उदासीन बना रहा। वह सोचने लगा—'मां जब कोलकाता आई, तब मृगमयी भी चाहती तो वह भी उनके साथ कोलकाता आ सकती थी, पाषाणी कहीं की।' इस प्रकार सोचते-सोचते उसे सारा मानव-जीवन व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगा।

ब्यालू के बाद बड़ी जोर की आंधी आई और बहुत तेज वर्षा होने लगी। दीदी ने कहा—"भैया, आज यहीं रह जाओ।"

अपूर्व ने कहा—"नहीं दीदी, मुझे जाना ही होगा। बहुत-सा काम पड़ा है।"

जीजा ने कहा—"ऐसी रात में तुम्हें क्या काम है? एक रात को यहां ठहर ही जाओगे तो तुम्हारा कौन-सा जरूरी काम बिगड़ जाएगा?"

बहुत कहने-सुनने के उपरांत अनिच्छापूर्वक अपूर्व को उस रात दीदी के पास ठहरना पड़ा।

उसके रुकने के लिए राजी होने के बाद दीदी ने कहा—"भैया! तुम थके हुए दिखाई देते हो, अब चलकर आराम कर लो।"

अपूर्व की भी यही इच्छा थी कि शय्या पर अंधेरे में अकेले जाकर सो जाए तो उसकी जान बचे। बातें करना भी तो उसे बुरा लगता था।

सोने के लिए जिस कमरे के द्वार तक उसे पहुंचाया गया, वहां जाकर देखा कि भीतर अंधकार छाया था। दीदी ने कहा—"डरो मत भैया! हवा से बत्ती बुझ गई मालूम होती है, दूसरी बत्ती लेकर आती हूं।"

अपूर्व ने कहा—"नहीं दीदी! अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे अंधेरे में ही सोने की आदत है।"

दीदी के चले जाने पर अपूर्व अंधकार से भरे कमरे में सावधानी के साथ शय्या की ओर बढ़ा। वह शय्या पर बैठना ही चाहता था कि इतने में चूड़ियों के खनकने की आवाज सुनाई दी और किसी ने अपने कोमल बाहुपाश में उसे बुरी तरह जकड़ लिया। उन्हीं क्षणों पुष्प से कोमल व्याकुल होंठों ने डाकू के समान आकर अविरल आंसू की धारा के भीगे हुए चुम्बनों के मारे उसे आश्चर्य प्रकट करने तक का अवसर न दिया।

अपूर्व पहले तो चौंक पड़ा। इसके बाद उसकी समझ में आया कि जो काम वह पाषाणी को मनाने के लिए अधूरा छोड़ आया था, उसे आज आंसुओं के वेग ने पूर्ण कर दिया है।

# अंतिम प्यार

आर्ट स्कूल के प्रोफेसर मनमोहन बाबू घर पर बैठे अपने कुछ दोस्तों के साथ गपशप कर रहे थे कि ठीक उसी समय योगेश बाबू ने कमरे में प्रवेश किया।

योगेश बाबू एक अच्छे चित्रकार थे, उन्होंने अभी कुछ ही समय पहले स्कूल छोड़ा था।

उन्हें देखकर वहां बैठे एक व्यक्ति ने कहा—"योगेश बाबू! नरेन्द्र क्या कहता है, आपने कुछ सुना?"

योगेश बाबू ने आराम-कुर्सी पर बैठकर पहले तो एक लम्बी सांस ली, फिर बोले—"क्या कहता है?"

"नरेन्द्र कहता है कि बंग-प्रांत में उसकी बराबरी का कोई भी चित्रकार इस समय नहीं है।"

"ठीक है, अभी कल का छोकरा है न। हम लोग तो जैसे आज तक घास खोदते रहे हैं।" योगेश बाबू ने झुंझलाकर कहा।

जो लड़का बातें कर रहा था, उसने कहा—"केवल यही नहीं, नरेन्द्र आपको भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता।"

योगेश बाबू ने उपेक्षित भाव से कहा—"क्यों, कोई अपराध?"

"वह कहता है कि आप आदर्श का ध्यान रखकर चित्र नहीं बनाते।"

"तो किस दृष्टिकोण से बनाता हूं?"

"दृष्टिकोण...?"

"रुपए के लिए।"

योगेश ने एक आंख बंद करके कहा—"व्यर्थ!" फिर आवेश में अपने कान के पास के अस्त-व्यस्त बालों को ठीक करके बहुत देर तक चुपचाप बैठे रहे।

चीन का जो सबसे बड़ा चित्रकार हुआ है, उसके बाल भी बहुत बड़े थे। यही कारण था कि योगेश ने भी स्वभाव-विरुद्ध सिर पर लम्बे-लम्बे बाल रखे हुए थे। ये बाल उनके चेहरे पर बिल्कुल अच्छे नहीं लगते थे, क्योंकि बचपन में एक बार चेचक निकलने से उनके प्राण तो बच गए थे, लेकिन चेहरा बहुत कुरूप हो गया था। एक तो श्याम-वर्ण, दूसरे चेचक के दाग। चेहरा देखकर सहसा यही जान पड़ता था, जैसे किसी ने बंदूक में छर्रे भरकर लिबलिबी दाब दी हो।

कमरे में जो लड़के बैठे थे, योगेश बाबू को क्रोधित देखकर उनके सामने ही मुंह बंद करके हंस रहे थे।

अचानक वह हंसी योगेश बाबू ने भी देख ली। योगेश बाबू क्रोधित स्वर में बोले—"तुम लोग हंस क्यों रहे हो?"

एक लड़के ने चाटुकारिता करते हुए जल्दी से कहा—"नहीं महाशय! आपको क्रोध आए और हम लोग हंसे, यह भला कैसे संभव हो सकता है?"

"ऊंह! मैं समझ गया, अब अधिक चतुर बनने की आवश्यकता नहीं है। क्या तुम लोग यह कहना चाहते हो कि अब तक तुम सब दांत निकालकर रो रहे थे? मैं मूर्ख नहीं हूं।" इतना कहकर उन्होंने अपनी आंखें बंद कर लीं।

लड़कों ने किसी प्रकार हंसी रोककर कहा—"चलिए यों ही सही, हम हंसते ही थे और रोते भी क्यों? पर हम नरेन्द्र के पागलपन को सोचकर हंसते थे। वह देखो मास्टर साहब के साथ नरेन्द्र आ रहा है।"

मास्टर साहब के साथ-साथ नरेन्द्र भी कमरे में आ गया।

योगेश ने एक बार नरेन्द्र की ओर वक्र दृष्टि से देखकर मनमोहन बाबू से कहा—"महाशय! नरेन्द्र मेरे विषय में क्या कहता है?"

मनमोहन बाबू जानते थे कि उन दोनों की लगती है। दो पाषाण जब परस्पर टकराते हैं तो अग्नि उत्पन्न हो ही जाती है। अतएव वे बात को संभालते हुए मुस्कराकर बोले—"योगेश बाबू! नरेन्द्र क्या कहता है?"

"नरेन्द्र कहता है कि मैं रुपए के दृष्टिकोण से चित्र बनाता हूं। मेरा कोई आदर्श नहीं है।"

"क्यों नरेन्द्र?" मनमोहन बाबू ने नरेन्द्र से पूछा।

नरेन्द्र अभी तक चुपचाप खड़ा था, अब किसी प्रकार आगे आकर बोला—"हां कहता हूं, मेरी यही सम्मति है।"

"बड़े आए सम्मति देने वाले। छोटा मुंह बड़ी बात। अभी कम उम्र का छोकरा और इतनी बड़ी-बड़ी बातें।" योगेश बाबू ने मुंह बनाकर कहा।

"योगेश बाबू जाने दीजिए। नरेन्द्र अभी बच्चा है और बात भी साधारण है। इस पर वाद-विवाद की क्या आवश्यकता है?" मनमोहन बाबू ने कहा।

"बच्चा है? नरेन्द्र बच्चा है, जिसके मुंह पर इतनी बड़ी-बड़ी मूंछें हों, यदि वह बच्चा है तो बूढ़ा क्या होगा? मनमोहन बाबू! आप यह क्या कहते हैं?" योगेश बाबू उसी तरह आवेश में बोले।

"महाशय! अभी जरा देर पहले तो आपने उसे कल का छोकरा बताया था।" एक विद्यार्थी ने कहा।

योगेश बाबू का मुंह क्रोध से लाल हो गया। फिर बोले—"कब कहा था?"

"अभी इससे जरा देर पहले।"

"झूठ! बिल्कुल झूठ! जिसकी इतनी बड़ी-बड़ी मूंछें हैं, उसे छोकरा कहूं, यह असंभव है। क्या तुम लोग यह कहना चाहते हो कि मैं निरा मूर्ख हूं।"

"नहीं महाशय! ऐसी बात हम भूलकर भी जिह्वा पर नहीं ला सकते।" सब लड़के एक स्वर से बोले।

"चुप-चुप! गोलमाल न करो।" मनमोहन बाबू किसी प्रकार हंसी को रोककर बोले।

"हां नरेन्द्र! तुम यह कहते हो कि बंग-प्रांत में तुम्हारी टक्कर का कोई चित्रकार नहीं है?" योगेश बाबू ने कहा।

"आपने कैसे जाना?" नरेन्द्र ने कहा।

"तुम्हारे मित्रों ने कहा।"

"मैं यह नहीं कहता। फिर भी इतना अवश्य कहूंगा कि मेरी तरह हृदय-रक्त पीकर बंगाल में कोई चित्र नहीं बनाता।"

"इसका प्रमाण?"

"प्रमाण की क्या आवश्यकता है? मेरा अपना यही विचार है।" नरेन्द्र ने आवेश भरे स्वर में कहा।

"तुम्हारा विचार असत्य है।"

नरेन्द्र बहुत कम बोलने वाला व्यक्ति था। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

"नरेन्द्र इस बार प्रदर्शनी के लिए तुम चित्र बनाओगे ना?" मनमोहन बाबू ने इस अप्रिय वार्तालाप को बन्द करने के लिए कहा।

"विचार तो है।" नरेन्द्र ने कहा।

"देखूंगा तुम्हारा चित्र कैसा रहता है?"

"जिसके गुरु आप हैं, उसे क्या चिंता? देखना सर्वोत्तम रहेगा।" नरेन्द्र ने श्रद्धा-भाव से उनकी पग-धूलि लेकर कहा।

योगेश बाबू ने कहा—"राम से पहले रामायण! पहले चित्र बनाओ फिर कहना।"

नरेन्द्र ने मुंह फेरकर योगेश बाबू की ओर देखा, कहा कुछ भी नहीं, किंतु मौन-भाव और उपेक्षा ने बातों से कहीं अधिक योगेश के हृदय को ठेस पहुंचाई।

मनमोहन बाबू ने कहा—"योगेश बाबू! चाहे आप कुछ भी कहें, मगर नरेन्द्र को अपनी आत्मिक शक्ति पर काफी भरोसा है। मैं दृढ़-निश्चय से कह सकता हूं कि यह भविष्य में एक बड़ा चित्रकार बनेगा।"

नरेन्द्र धीरे-धीरे कमरे से बाहर चला गया।

एक विद्यार्थी ने कहा—"हां, मैं भी मानता हूं। जो व्यक्ति अपने भाव अच्छी तरह प्रकट करने में सफल हो जाता है, उसे सर्व-साधारण किसी सीमा तक विक्षिप्त समझते हैं। चित्र में एक विशेष प्रकार का आकर्षण तथा मोहकता उत्पन्न करने की उसमें असाधारण योग्यता है। तुम्हें मालूम है, नरेन्द्र ने एक बार क्या किया था? मैंने देखा कि नरेन्द्र के बाएं हाथ की उंगली से खून का फव्वारा छूट रहा है और वह बिना किसी कष्ट के बैठा चित्र बना रहा है। मैं तो यह देखकर दंग रह गया। मेरे पूछने पर उसने उत्तर दिया कि उंगली काटकर देख रहा था कि खून का वास्तविक रंग क्या है? अजीब व्यक्ति है। तुम लोग इसे विक्षिप्तता कह सकते हो, किंतु इसी विक्षिप्तता के ही कारण तो वह एक दिन अमर कलाकार कहलाएगा।"

'जैसे गुरु वैसे चेले, दोनों-के-दोनों पागल हैं।' योगेश बाबू आंख बंद करके सोचने लगे।

सोचते-सोचते नरेन्द्र मकान की ओर चला गया। मार्ग में बहुत भीड़-भाड़ थी। कितनी ही गाड़ियां चली जा रही थीं, किंतु इन बातों की ओर उसका ध्यान नहीं था। उसे क्या चिंता थी? संभवतः इसका भी उसे पता न था।

वह थोड़े समय के भीतर ही बहुत बड़ा चित्रकार हो गया, इस थोड़े-से समय में वह इतना सुप्रसिद्ध और सर्व-प्रिय हो गया था कि उसके ईर्ष्यालु मित्रों को अच्छा न लगा। इन्हीं ईर्ष्यालु मित्रों में योगेश बाबू भी थे। नरेन्द्र में एक विशेष योग्यता और उसकी तूलिका में एक असाधारण शक्ति है। योगेश बाबू इसे दिल-ही-दिल में खूब समझते थे, परंतु ऊपर से उसे मानने के लिए तैयार न थे।

इस थोड़े से समय में ही उसका इतनी प्रसिद्धि प्राप्त करने का एक विशेष कारण भी था। वह यह कि नरेन्द्र जिस चित्र को भी बनाता था, अपनी सारी योग्यता उसमें लगा देता था। उसकी दृष्टि केवल चित्र पर रहती थी। पैसे की ओर भूलकर भी उसका ध्यान नहीं जाता था। उसके हृदय की महत्त्वाकांक्षा थी कि चित्र बहुत ही सुन्दर बने। उसमें अपने ढंग की विशेष विलक्षणता हो। मूल्य चाहे कम मिले या अधिक। वह अपने विचार और भावनाओं की मधुर रूप-रेखाएं अपने चित्र में देखता था।

जिस समय वह चित्र बनाने बैठता तो चारों ओर फैली हुई असीम प्रकृति और उसकी सारी रूप-रेखाएं हृदय-पट से गुम्फित कर देता। इतना ही नहीं, वह अपने अस्तित्व से भी विस्मृत हो जाता। वह उस समय पागलों की भांति दिखाई पड़ता और अपने प्राण तक उत्सर्ग कर देने से भी उस समय संभवतः उसको संकोच न होता। यह दशा उस समय की एकाग्रता की होती। वास्तव में इसी कारण उसे

यह सम्मान प्राप्त हुआ था। उसके स्वभाव में सादगी थी। वह जो बात सादगी से कहता, लोग उसे अभिमान और प्रदर्शन से लदी हुई समझते। उसके सामने कोई कुछ न कहता, परंतु बाद में लोग उसकी बुराई करने से न चूकते, सब-के-सब नरेन्द्र को संज्ञाहीन-सा पाते। वह किसी बात को कान लगाकर न सुनता, कोई पूछता कुछ और वह उत्तर कुछ और ही देता। वह सर्वदा ऐसा प्रतीत होता, जैसे अभी-अभी स्वप्न देख रहा था और किसी ने सहसा उसे जगा दिया हो। उसने विवाह किया और एक लड़का भी उत्पन्न हुआ, पत्नी बहुत सुंदर थी, परंतु नरेन्द्र के लिए गृहस्थ जीवन में किसी प्रकार का आकर्षण न था। उसका हृदय प्रेम का अथाह सागर था। वह हर समय इसी धुन में रहता था कि चित्रकला में प्रसिद्धि प्राप्त करे। यही कारण था कि लोग उसे पागल समझते थे। किसी हल्की वस्तु को यदि पानी में जबर्दस्ती डुबो दो तो वह किसी प्रकार भी न डूबेगी, बल्कि ऊपर तैरती रहेगी। ठीक यही दशा उन लोगों की होती है, जो अपनी धुन के पक्के होते हैं। वे सांसारिक दुख-सुख में किसी प्रकार डूबना नहीं जानते। उनका हृदय हर समय कार्य पूर्ति में संलग्न रहता है।

नरेन्द्र सोचते-सोचते अपने मकान के सामने आ खड़ा हुआ। उसने देखा कि द्वार के समीप उसका चार साल का बच्चा मुंह में उंगली डाले किसी गहरी चिंता में खड़ा है। पिता को देखते ही बच्चा दौड़ता हुआ आया और दोनों हाथों से नरेन्द्र को पकड़कर बोला—"बाबूजी!"

"क्या बेटा?"

बच्चे ने पिता का हाथ पकड़ लिया और खींचते हुए बोला—"बाबूजी! देखो हमने एक मेढक मारा है, जो लंगड़ा हो गया है...।"

"तो मैं क्या करूं? तू बड़ा पाजी है।" नरेन्द्र ने बच्चे को गोद में उठाकर कहा।

बच्चे ने कहा—"वह घर नहीं जा सकता। वह लंगड़ा हो गया है, कैसे जाएगा? चलो उसे गोद में उठाकर उसके घर पहुंचा दो।"

नरेन्द्र ने बच्चे को गोद में उठा लिया और हंसते-हंसते घर में ले आया।

एक दिन नरेन्द्र को ध्यान आया कि इस बार की प्रदर्शनी में जैसे भी हो अपना एक चित्र भेजना चाहिए। कमरे की दीवारों पर उसके हाथ के कितने ही चित्र टंगे हुए थे। कहीं प्राकृतिक दृश्य, कहीं मनुष्य के शरीर की रूप-रेखा, कहीं स्वर्ण की भांति सरसों के खेत की हरियाली, जंगली मनमोहक दृश्यावली और कहीं वे रास्ते, जो छाया वाले वृक्षों के नीचे से टेढ़े-तिरछे होकर नदी के पास जा मिलते थे। धुएं की भांति गगनचुम्बी पहाड़ों की पंक्ति, जो तेज धूप में स्वयं झुलसी

जा रही थी और सैकड़ों पथिक धूप से व्याकुल होकर छायादार वृक्षों के समूह में शरणार्थी थे, ऐसे कितने ही दृश्य थे। दूसरी ओर अनेक पक्षियों के चित्र थे। उन सबके मनोभाव उनके चेहरों से प्रकट हो रहे थे। कोई गुस्से में भरा हुआ, कोई चिंता की अवस्था में तो कोई प्रसन्न-मुख।

कमरे के उत्तरीय भाग में खिड़की के समीप एक अपूर्ण चित्र लगा हुआ था। उसमें ताड़ के वृक्षों के समीप सर्वदा मौन रहने वाली छाया के आश्रय में एक सुंदर नवयौवना नदी के नील-वर्ण जल में अचल बिजली-सी मौन खड़ी थी। उसके होंठों और चेहरे की रेखाओं में चित्रकार ने हृदय की पीड़ा अंकित की थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो चित्र बोलना चाहता है, किंतु यौवन उसके शरीर में अभी पूरी तरह फूटा नहीं है।

इन सब चित्रों में चित्रकार के इतने दिनों की आशा और निराशा मिश्रित थी, परंतु आज इन चित्रों की रेखाओं और रंगों ने उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं किया। उसके हृदय में बार-बार यही विचार आने लगे कि इतने दिनों तक उसने केवल बच्चों का खेल किया है। केवल कागज के टुकड़ों पर रंग पोता है। इतने दिनों से उसने जो कुछ रेखाएं कागज पर खींची थीं, वे सब उसके हृदय को अपनी ओर आकर्षित न कर सकीं, क्योंकि उसके विचार पहले की अपेक्षा बहुत उच्च थे। उच्च ही नहीं, बल्कि बहुत उच्चतम होकर चील की भांति आकाश में मंडराना चाहते थे। यदि वर्षा ऋतु का सुहावना दिन हो तो क्या कोई शक्ति उसे रोक सकती थी? वह उस समय आवेश में आकर उड़ने की उत्सुकता में असीमित दिशाओं में उड़ जाता। एक बार भी मुड़कर नहीं देखता। अपनी पहली अवस्था पर किसी प्रकार भी वह संतुष्ट नहीं था। नरेन्द्र के हृदय में रह-रहकर यही विचार आने लगा। भावना और लालसा की झड़ी-सी लग गई।

उसने निश्चय कर लिया कि इस बार वह ऐसा चित्र बनाएगा, जिससे उसका नाम अमर हो जाए। वह इस वास्तविकता को सबके दिलों में बिठा देना चाहता था कि उसकी अनुभूति बचपन की अनुभूति नहीं है।

मेज पर सिर रखकर नरेन्द्र विचारों का ताना-बाना बुनने लगा। वह क्या बनाएगा? किस विषय पर बनाएगा? हृदय पर आघात होने से साधारण प्रभाव पड़ता है। भावनाओं के कितने ही पूर्ण और अपूर्ण चित्र उसकी आंखों के सामने से सिनेमा-चित्र की भांति चले गए, लेकिन किसी ने भी दम-भर के लिए उसके ध्यान को अपनी ओर आकर्षित नहीं किया। सोचते-सोचते संध्या के अंधियारे में शंख की मधुर ध्वनि ने उसको मस्त कर देने वाला गीत सुनाया। इस स्वर-लहरी से नरेन्द्र चौंककर उठ खड़ा हुआ। फिर उसी अंधकार में वह गहरी

सोच में कमरे के अंदर पागलों की भांति टहलने लगा, लेकिन सब व्यर्थ! बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई विचार न सूझा।

रात बहुत बीत चुकी थी। अमावस्या की अंधेरी रात में आकाश परलोक की भांति धुंधला प्रतीत होता था। नरेन्द्र कुछ खोया-खोया-सा पागलों की भांति उसे ताकता रहा। बाहर से रसोइए ने द्वार खटखटाकर कहा—"बाबूजी!"

"कौन है?" चौंककर नरेन्द्र ने पूछा।

"बाबूजी! भोजन तैयार है चलिए।"

नरेन्द्र ने झुंझलाते हुए कटु स्वर में कहा—"मुझे तंग न करो। जाओ मैं इस समय नहीं खाऊंगा।"

"कुछ थोड़ा-सा।"

"मैं कहता हूं बिल्कुल नहीं।"

निराश मन से रसोइया भारी कदमों से वापस लौट गया और नरेन्द्र ने अपने आपको गहन चिंतन-सागर में डुबो दिया। दुनिया में जिसे ख्याति प्राप्त करने का व्यसन लग गया हो, उसे चैन कहां?

एक सप्ताह बीत गया। इस एक सप्ताह में नरेन्द्र ने घर से बाहर कदम न निकाला। घर में बैठा सोचता रहा—'किसी-न-किसी मंत्र से तो साधना की देवी अपनी कला दिखाएंगी ही।'

इससे पूर्व किसी चित्र के लिए उसे विचार-प्राप्ति में देर न लगती थी, परंतु इस बार किसी तरह भी उसे कोई बात न सूझी। ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होते जाते थे, वह निराश होता जाता था। केवल यही क्यों? कई बार तो उसने झुंझलाकर सिर के बाल तक नोंच लिए थे। वह अपने आपको गालियां देता, पृथ्वी पर पेट के बल लेटकर बच्चों की तरह रोया भी, किंतु सब व्यर्थ!

प्रातःकाल नरेन्द्र मौन बैठा था कि मनमोहन बाबू के द्वारपाल ने आकर उसे एक पत्र दिया। उसने पत्र खोलकर देखा। प्रोफेसर साहब ने उसमें लिखा था—

*'प्रिय नरेन्द्र,*

*प्रदर्शनी होने में अब अधिक दिन शेष नहीं हैं। एक सप्ताह के अंदर यदि चित्र न आया तो ठीक नहीं। लिखना, तुम्हारी क्या प्रगति हुई है और तुम्हारा चित्र कितना बन गया है?*

*योगेश बाबू ने चित्र बना लिया है। मैंने देखा है, सुंदर है, लेकिन मुझे तुमसे और भी अच्छे चित्र की आशा है। तुमसे अधिक प्रिय मुझे और कोई नहीं। मैं आशीर्वाद देता हूं कि तुम अपने गुरु की लाज रख सको।*

*इस बात का ध्यान रखना कि इस प्रदर्शनी में यदि तुम्हारा चित्र अच्छा रहा तो तुम्हारी ख्याति में कोई बाधा न रहेगी। तुम्हारा परिश्रम सफल हो, यही मेरी कामना है।*

*—मनमोहन'*

पत्र पढ़कर नरेन्द्र और भी व्याकुल हो उठा। केवल एक सप्ताह शेष है और अभी तक उसके मस्तिष्क में चित्र के विषय में कोई विचार ही नहीं आया। खेद है, अब वह क्या करेगा?

उसे अपने आत्म-बल पर बहुत विश्वास था, लेकिन इस समय वह विश्वास भी जाता रहा। इसी तुच्छ शक्ति पर वह दस व्यक्तियों में सिर उठाए फिरता रहा है!

उसने सोचा था अमर कलाकार बन जाऊंगा, परंतु वाह रे दुर्भाग्य! अपनी अयोग्यता पर नरेन्द्र की आंखों में आंसू भर आए।

रोगी की रात जैसे आंखों में निकल जाती है, उसकी वह रात वैसे ही समाप्त हुई। नरेन्द्र को इसका तनिक भी पता न चला। उधर वह कई दिनों से चित्रशाला ही में सोया था। नरेन्द्र के मुख पर जागने के चिन्ह थे। उसकी पत्नी भागी-भागी आई और जल्दी से उसका हाथ पकड़कर बोली—"अजी बच्चे को क्या हो गया है, आकर देखो तो।"

"क्या हुआ?" नरेन्द्र ने पूछा।

"शायद हैजा! इस प्रकार खड़े न रहो, बच्चा बिल्कुल अचेत पड़ा है।" पत्नी लीला हांफते हुए बोली।

बहुत ही अनमने मन से नरेन्द्र ने शयन-कक्ष में प्रवेश किया।

बच्चा बिस्तर से लगा पड़ा था। पलंग के चारों ओर उस भयानक रोग के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे थे। गुलाबी रंग दो घड़ी में ही पीला हो गया था। सहसा देखने से यही लगता था, जैसे बच्चा जीवित नहीं है। केवल उसके वक्ष के समीप कोई वस्तु धक्-धक् कर रही थी और इस क्रिया से ही जीवन के कुछ चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे थे।

वह बच्चे के सिरहाने सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

"इस तरह खड़े न रहो। जाओ, डॉक्टर को बुला लाओ।" लीला ने कहा।

मां की आवाज सुनकर बच्चे ने मिचमिचाते हुए आंखें खोलने का प्रयास किया और भर्राई हुई आवाज में बोला—"मां! ओ मां!!"

"मेरा लाल! मेरी पूंजी! क्या कह रहा है?" कहते-कहते लीला ने दोनों

हाथों से बच्चे को अपनी गोद से चिपटा लिया। मां के वक्ष पर सिर रखकर बच्चा फिर खामोश-सा हो गया।

नरेन्द्र के नेत्र सजल हो गए। वह बच्चे की ओर देखता रहा।

"अभी तक डॉक्टर को बुलाने नहीं गए?" लीला ने शिकायत भरे स्वर में कहा।

"ऐं...डॉक्टर?" नरेन्द्र ने दबी आवाज में कहा।

पति की आवाज का अस्वाभाविक स्वर सुनकर लीला ने चकित होते हुए कहा—"क्या?"

"कुछ नहीं।"

"जाओ, डॉक्टर को बुला लाओ।"

"अभी जाता हूं।"

कहकर नरेन्द्र घर से बाहर निकला।

घर का द्वार बन्द हुआ। लीला ने आश्चर्यचकित होकर सुना कि उसके पति ने बाहर से द्वार की जंजीर खींच ली और वह सोचती रही—'यह क्या?'

नरेन्द्र चित्रशाला में प्रविष्ट होकर एक कुर्सी पर बैठ गया।

दोनों हाथों से मुंह ढांपकर वह सोचने लगा। उसकी दशा देखकर ऐसा लगता था कि वह किसी तीव्र आत्मिक पीड़ा से पीड़ित है। चारों ओर गहरे सूनेपन का राज्य था। केवल दीवार पर लगी हुई घड़ी कभी न थकने वाली गति से टिक्-टिक् कर रही थी और नरेन्द्र के सीने के अंदर उसका हृदय मानो उत्तर देता हुआ कह रहा था—धक्-धक्। संभवतः उसके भयानक संकल्पों से परिचित होकर घड़ी और उसका हृदय परस्पर काना-फूसी कर रहे थे। सहसा नरेन्द्र उठ खड़ा हुआ। संज्ञाहीन अवस्था में कहने लगा—'क्या करूं? ऐसा आदर्श फिर न मिलेगा, परंतु...वह तो मेरा पुत्र है।'

यह कहते-कहते वह रुक गया और मौन होकर सोचने लगा। सहसा मकान के अंदर से सनसनाते हुए बाण की भांति 'हाय' की हृदयविदारक आवाज उसके कानों में पड़ी।

"मेरे लाल! तू कहां गया?"

जिस प्रकार चिल्ला-टूट जाने से कमान सीधी हो जाती है, चिंता और व्याकुलता से नरेन्द्र ठीक उसी तरह सीधा खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर लाली का चिन्ह तक न था। फिर कान लगाकर उसने आवाज सुनी तो वह समझ गया कि बच्चा चल बसा।

नरेन्द्र मन-ही-मन में बोला—'भगवान! तुम साक्षी हो, मेरा कोई अपराध नहीं।'

इसके बाद वह अपने सिर के बालों को मुट्ठी में लेकर सोचने लगा। जैसे कुछ समय बाद ही मनुष्य निद्रा से चौंक उठता है, उसी प्रकार चौंककर जल्दी-जल्दी मेज पर से कागज, तूलिका और रंग आदि लेकर वह कमरे से बाहर निकल गया।

शयन-कक्ष के सामने एक खिड़की के समीप आकर वह अचकचाकर खड़ा हो गया। कुछ सुनाई देता है क्या? नहीं सब खामोश हैं, उसे खिड़की से कमरे का आंतरिक भाग दिखाई पड़ रहा था। झांककर भय से थर-थर कांपते हुए उसने देखा तो उसके सारे शरीर में कांटे-से चुभ गए। बिस्तर उलट-पुलट हो रहा था। पुत्र से रिक्त गोद किए मां वहीं पड़ी हुई थी।

और इसके अतिरिक्त...मां कमरे में पृथ्वी पर लोटते हुए, बच्चे के मृत शरीर को दोनों हाथों से वक्षःस्थल के साथ चिपटाए, बाल बिखेरे, नेत्र विस्फारित किए, बच्चे के निर्जीव होंठों को बार-बार चूम रही थी।

नरेन्द्र की दोनों आंखों में जैसे किसी ने दो सलाखें चुभो दी हों। उसने होंठ चबाकर कठिनता से स्वयं को संभाला और इसके साथ ही कागज पर पहली रेखा खींची। उसके सामने कमरे के अंदर का वही भयानक दृश्य उपस्थित था। संभवतः संसार के किसी अन्य चित्रकार ने ऐसा दृश्य सम्मुख रखकर तूलिका न उठाई होगी।

देखने में नरेन्द्र के शरीर में कोई गति न थी, परंतु उसके हृदय में कितनी वेदना थी? उसे कौन समझ सकता है, वह तो पिता था।

नरेन्द्र जल्दी-जल्दी चित्र बनाने लगा। जीवन-भर चित्र बनाने में इतनी जल्दी उसने कभी नहीं की थी। उसकी उंगलियां किसी अज्ञात शक्ति से अपूर्व शक्ति प्राप्त कर चुकी थीं। रूप-रेखा बनाते हुए उसने सुना—"बेटा! ओ बेटा! बातें करो, बातें करो, जरा एक बार तुम देख तो लो?"

नरेन्द्र ने अस्फुट स्वर में कहा—'उफ! यह असहनीय है।" और उसके हाथ से तूलिका छूटकर भूमि पर गिर पड़ी।

किंतु उसी समय तूलिका उठाकर वह पुनः चित्र बनाने लगा। रह-रहकर लीला का क्रंदन-रुदन उसके कानों में पहुंचकर हृदय को छेड़ता और रक्त की गति को मंद करता और उसके हाथ स्थिर होकर उसकी तूलिका की गति को रोक देते।

इसी प्रकार पल-पल बीतने लगा।

मुख्य द्वार से अंदर आने के लिए नौकरों ने शोर मचाना शुरू कर दिया था, परंतु नरेन्द्र मानो इस समय विश्व और विश्वव्यापी कोलाहल से बहरा हो चुका

था। वह कुछ भी न सुन सका। इस समय वह एक बार कमरे की ओर देखता और एक बार चित्र की ओर, बस रंग में तूलिका डुबोता और फिर कागज पर चला देता।

वह पिता था, परंतु कमरे के अंदर पत्नी के हृदय से लिपटे हुए मृत बच्चे की याद भी वह धीरे-धीरे भूलता जा रहा था।

सहसा लीला ने उसे देख लिया। दौड़ती हुई खिड़की के समीप आकर दुखित स्वर में बोली—"क्या डॉक्टर को बुलाया? जरा एक बार आकर देख तो लेते कि मेरा लाल जीवित है या नहीं...यह क्या? चित्र बना रहे हो?"

चौंककर नरेन्द्र ने लीला की ओर देखा! वह लड़खड़ाकर गिर रही थी। बाहर से द्वार खटखटाने और बार-बार चिल्लाने पर भी जब कपाट नहीं खुले तो रसोइया और नौकर दोनों डर गए। वे अपना काम समाप्त करके प्रायः संध्या के समय घर चले जाते थे और प्रातःकाल काम पर जाते थे। प्रतिदिन लीला और नरेन्द्र दोनों में से कोई-न-कोई द्वार खोल देता था, आज चिल्लाने और खटखटाने पर भी द्वार नहीं खुला। इधर रह-रहकर लीला की क्रंदन-ध्वनि भी नरेन्द्र के कानों में आ रही थी।

उन लोगों ने मुहल्ले के कुछ व्यक्तियों को बुलाया। अन्त में सबने सलाह करके द्वार तोड़ डाला।

सब आश्चर्यचकित होकर मकान में घुसे। जीने से चढ़कर देखा कि दीवार का सहारा लिए, दोनों हाथ जंघाओं पर रखे नरेन्द्र सिर नीचा किए हुए बैठा है।

उनके पैरों की आहट से नरेन्द्र ने चौंककर सिर उठाया। उसके नेत्र रक्त की भांति लाल थे। थोड़ी देर पश्चात वह ठहाका मारकर हंसने लगा और सामने लगे चित्र की ओर उंगली दिखाकर बोल उठा—"डॉक्टर! डॉक्टर! मैं अमर हो गया।"

दिन बीतते गए, प्रदर्शनी आरम्भ हो गई।

प्रदर्शनी में देखने की कितनी ही वस्तुएं थीं, लेकिन दर्शक एक ही चित्र पर झुके पड़े थे। चित्र छोटा-सा था और अधूरा भी, नाम था—'अंतिम प्यार'!

चित्र में चित्रित किया हुआ था कि एक मां बच्चे का मृत शरीर सीने से लगाए अपने दिल के टुकड़े के चंदा-से मुखड़े को बार-बार चूम रही है।

शोक और चिंता में डूबी हुई मां के मुख, नेत्र और शरीर में चित्रकार की तूलिका ने एक ऐसा सूक्ष्म और दर्दनाक चित्र चित्रित किया कि जो देखता उसी की आंखों से आंसू निकल पड़ते। चित्र की रेखाओं में इतनी अधिक सूक्ष्मता से दर्द भरा जा सकता है, यह बात पहले किसी के ध्यान में नहीं आई थी।

इस दर्शक-समूह के कितने ही चित्रकार थे। उनमें से एक ने कहा—"देखिए योगेश बाबू, आप क्या कहते हैं?"

योगेश बाबू उस समय मौन धारण किए चित्र की ओर देख रहे थे। सहसा प्रश्न सुनकर एक आंख बंद करके बोले—"यदि मुझे पहले से ज्ञात होता तो मैं नरेन्द्र को अपना गुरु बनाता।"

दर्शकों ने धन्यवाद, साधुवाद और वाह-वाह की झड़ी लगा दी, परंतु किसी को भी मालूम न हुआ कि उस सज्जन पुरुष का मूल्य क्या है, जिसने इस चित्र को चित्रित किया है।

किस प्रकार चित्रकार ने स्वयं को धूलि में मिलाकर रक्त से इस चित्र को रंगा है, उसकी यह दशा किसी को भी ज्ञात न हो सकी।

# कवि का हृदय

चांदनी रात में भगवान विष्णु बैठे मन-ही-मन गुनगुना रहे थे—

'मैं विचार किया करता था कि मनुष्य सृष्टि का सबसे सुंदर निर्माण है, किंतु मेरा विचार भ्रामक सिद्ध हुआ। कमल के उस फूल को, जो वायु के झोंकों से हिलता है। मैं देख रहा हूं कि वह सम्पूर्ण जीव-मात्र से कितना अधिक पवित्र और सुंदर है। उसकी पंखुड़ियां अभी-अभी प्रकाश से खिली हैं। वह ऐसा आकर्षक है कि मैं अपनी दृष्टि उस पर से नहीं हटा सकता। हां, मानवों में इसके समान कोई वस्तु विद्यमान नहीं।'

विष्णु भगवान ने एक ठंडी सांस खींची। उसके एक क्षण पश्चात सोचने लगे—

'आखिर किसी प्रकार मुझको अपनी शक्ति से एक नवीन अस्तित्व उत्पन्न करना चाहिए, जो मनुष्यों में ऐसा हो जैसा कि फूलों में कमल है, जो आकाश और पृथ्वी दोनों के लिए सुख तथा प्रसन्नता का कारण बने। ऐ कमल! तू एक सुंदर युवती के रूप में परिवर्तित हो जा और मेरे सामने खड़ा हो।'

जल में एक हल्की-सी लहर उत्पन्न हुई, जैसे कृष्ण चिड़िया के पंखों से प्रकट होती है। रात अधिक प्रकाशमान हो गई। चंद्रमा पूरे प्रकाश के साथ चमकने लगा, परंतु कुछ समय पश्चात अचानक सब मौन रह गए, जादू पूरा हो गया। भगवान के सम्मुख कमल मानवी-रूप में खड़ा था।

वह ऐसा सुंदर रूप था कि स्वयं देवता को भी देखकर आश्चर्य हुआ। उसी रूपवती को संबोधित करके विष्णु भगवान बोले—"तुम इसके पहले सरोवर का फूल थीं, अब मेरी कल्पना का फूल हो, बातें करो।"

सुंदर युवती ने बहुत धीरे-से बोलना आरम्भ किया। उसका स्वर ठीक ऐसा था, जैसे कमल की पंखुड़ियां प्रातःसमीकरण के झोंकों से बज उठती हैं।

"महाराज! आपने मुझको मानवी-रूप में परिवर्तित किया है। कहिए अब आप मुझे किस स्थान में रहने की आज्ञा देते हैं। महाराज! पहले मैं पुष्प थी तो वायु के थपेड़ों से डरा करती थी और अपनी पंखुड़ियां बंद कर लेती थी। मैं वर्षा और आंधी से भय मानती थी। बिजली और उसकी कड़क से मेरे हृदय को डर लगता था। मैं सूर्य की जलाने वाली किरणों से डरा करती थी। आपने मुझको कमल

से इस अवस्था में बदला है, अतः मेरी पहले-सी प्रकृति है। मैं पृथ्वी से और जो कुछ उस पर विद्यमान है, उससे डरती हूं। आज्ञा दीजिए मुझे कहां रहना चाहिए।"

विष्णु ने तारों की ओर दृष्टि की, एक क्षण तक कुछ सोचा, उसके बाद पूछा—"क्या तुम नागराज के शिखरों पर रहना चाहती हो?"

"नहीं महाराज! वहां बर्फ है और मैं शीत से डरती हूं।"

"अच्छा! मैं सरोवर की तह में तुम्हारे लिए शीशे का महल बनवा दूंगा।"

"जल की गहराइयों में सर्प और भयावने जन्तु रहते हैं, इसलिए मुझे डर लगता है।"

"तो क्या तुमको सुनसान उजाड़ स्थान रुचिकर है?"

"नहीं महाराज! वन की तूफानी समीर और दामिनी की भयावनी कड़क को मैं किस प्रकार सहन कर सकती हूं।"

"तो फिर तुम्हारे लिए कौन-सा स्थान निश्चित किया जाए? हां, अजन्ता की गुफाओं में साधु रहते हैं, क्या तुम सबसे अलग किसी गुफा में रहना चाहती हो?"

"महाराज! वहां बहुत अंधेरा है, मुझे डर लगता है।"

भगवान विष्णु घुटने के नीचे हाथ रखकर एक पत्थर पर बैठ गए। उनके सामने वह सुंदरी सहमी हुई खड़ी थी।

बहुत देर के बाद, जब ऊषा-किरण के प्रकाश ने पूर्व दिशा में आकाश को प्रकाशित किया, जब सरोवर का जल, ताड़ के वृक्ष और हरे बांस सुनहरे हो गए, गुलाबी, बगुले, नीले सारस और श्वेत हंस मिलकर पानी पर और मोर जंगल में कूदने लगे तो उसके साथ ही वीणा की मस्त कर देने वाली लय से मिश्रित प्रेमगान सुनाई देना आरम्भ हुआ। भगवान अब तक संसार की चिंता में संलग्न थे, अब चौंके और कहा—"देखो! कवि वाल्मीकि सूर्य को नमस्कार कर रहा है।"

कुछ समय पश्चात वे केसरिया पर्दे, जो चांदनी को ढके हुए थे, उठ गए और सरोवर के पास कवि वाल्मीकि प्रकट हुए। मनुष्य के रूप में बदले हुए कमल के फूल को देखकर उन्होंने वाद्ययंत्र बजाना बंद कर दिया। वीणा उनके हाथों से गिर पड़ी, दोनों हाथ जंघाओं पर जा लगे। वह खड़े-के-खड़े रह गए। जैसे सर्वथा किंकर्तव्यविमूढ़ हों।

भगवान ने पूछा—"वाल्मीकि! क्या बात है, मौन हो गए?"

वाल्मीकि बोले—"महाराज! आज मैंने प्रेम का पाठ पढ़ा है।" बस इससे अधिक कुछ न कह सके।

विष्णु भगवान का मुख अचानक चमक उठा। उन्होंने कहा—"सुंदर कामिनी! मुझको तेरे लिए योग्य स्थान मिल गया, जा कवि के हृदय में निवास कर।"

भगवान ने वाल्मीकि के हृदय को शीशे के समान निर्मल कर दिया था। सुंदरी अपने निर्वाचित स्थान में प्रविष्ट हो रही थी, किंतु जैसे ही उसने वाल्मीकि के हृदय की गहराई को मापा, उसका मुख पीला पड़ गया और उस पर भय छा गया।

भगवान को आश्चर्य हुआ। बोले—"क्या कवि-हृदय में भी रहने से डरती हो?"

"महाराज! आपने मुझे किस स्थान पर रहने की आज्ञा दी है। मुझको तो इस एक ही हृदय में नागराज के शिखर, अजीब जन्तुओं से भरी हुई जल की अथाह गहराई और अजन्ता की अंधेरी गुफाएं आदि सब कुछ दृष्टिगोचर होता है, इसलिए महाराज! मैं भयभीत होती हूं।"

यह सुनकर विष्णु भगवान मुस्कराए और बोले—"मनुष्य के रूप में परिवर्तित सकून रख। यदि कवि के हृदय में हिम है तो तुम वसंत ऋतु की उष्ण समीर का झोंका बन जाओगी, जो हिम को भी पिघला देगा। यदि उसमें जल की गहराई है तो तुम उस गहराई में मोती बन जाओगी। यदि निर्जन वन है तो तुम उसमें सुख और शांति के बीज बो दोगी। यदि अजन्ता की गुफा है तो तुम उसके अंधेरे में सूर्य की किरण बनकर चमकोगी।"

कवि ने इस बीच में बोलने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। उसकी ओर देखते ही भगवान विष्णु ने इतना और कहा—"जाओ, यह वस्तु तुम्हें देता हूं, इसे लो और सुखी रहो।"

# यह स्वतंत्रता

पाठक चक्रवर्ती अपने मुहल्ले के लड़कों का नेता था। सब उसका कहा मानते थे। यदि कोई उसके विरुद्ध जाता तो उस पर आफत आ जाती। सब मुहल्ले के लड़के उसको मारते थे। आखिरकार बेचारे को विवश होकर पाठक से क्षमा मांगनी पड़ती। एक बार पाठक ने एक नया खेल सोचा। नदी के किनारे एक बड़ा-सा लकड़ी का लट्ठा पड़ा था जिसकी नौका बनाई जाने वाली थी। पाठक ने कहा—"हम सब मिलकर उस लट्ठे को लुढ़काएं, लट्ठे का स्वामी हम पर क्रुध होगा और हम सब उसका मजाक उड़ाकर खूब हंसेंगे।" सब लड़कों ने उसका अनुमोदन किया।

जब खेल शुरू होने वाला था तो पाठक का छोटा भाई मक्खन बिना किसी से एक शब्द कहे उस लट्ठे पर बैठ गया। लड़के रुके और एक क्षण तक मौन रहे। फिर एक लड़के ने उसको धक्का दिया, परंतु वह न उठा। यह देखकर पाठक को क्रोध आया। उसने कहा—"मक्खन! यदि तू नहीं उठेगा तो इसका बुरा परिणाम होगा।"

किंतु मक्खन यह सुनकर और आराम से बैठ गया। अब यदि पाठक कुछ हल्का पड़ता तो उसकी बात जाती रहती। बस, उसने आज्ञा दी कि लट्ठा लुढ़का दिया जाए।

पाठक की आज्ञा पाते ही लड़के एक-दो-तीन कहकर लटठ्े की ओर दौड़े और सबने जोर लगाकर लट्ठे को धकेल दिया। लट्ठे को फिसलता और मक्खन को गिरता देखकर लड़के बहुत प्रसन्न हुए, किंतु पाठक कुछ भयभीत हुआ, क्योंकि वह जानता था कि इसका परिणाम क्या होगा। मक्खन जमीन से उठा और पाठक को लातें और घूंसे मारकर घर की ओर रोता हुआ चल दिया।

पाठक को लड़कों के सामने इस अपमान से बहुत खेद हुआ। वह नदी किनारे मुंह-हाथ धोकर बैठ गया और घास तोड़-तोड़कर चबाने लगा। इतने में एक नौका वहां पर आई, जिसमें एक अधेड़ आयु वाला व्यक्ति बैठा था। उस व्यक्ति ने पाठक के समीप आकर मालूम किया—"पाठक चक्रवर्ती कहां रहता है?"

पाठक ने उपेक्षा भाव से बिना किसी ओर संकेत किए हुए कहा—"वहां।" और फिर घास चबाने लगा।

"कहां?" उस व्यक्ति ने पूछा।

"मुझे नहीं मालूम।" पाठक ने अपने पांव फैलाते हुए उपेक्षा से उत्तर दिया।

इतने में उसके घर का नौकर आया और उससे बोला—"पाठक! तुम्हारी मां तुम्हें बुला रही है।"

पाठक ने जाने से इंकार किया, लेकिन नौकर चूंकि मालकिन की तरफ से आया था, इस वजह से वह उसको जबर्दस्ती मारता हुआ ले गया?

पाठक जब घर आया तो उसकी मां ने क्रोध में भरकर पूछा—"तूने मक्खन को फिर मारा?"

"नहीं तो, तुमसे किसने कहा?" पाठक ने उत्तर दिया।

"झूठ मत बोल, तूने मारा है।" मां ने कहा।

"नहीं यह बिल्कुल असत्य है, तुम मक्खन से पूछो।" पाठक ने उत्तर दिया।

क्योंकि मक्खन पहले ही कह चुका था कि मुझे पाठक ने मारा है, इसलिए उसने अपने शब्द कायम रखे और दोबारा फिर कहा—"हां-हां मारा है।"

यह सुनकर पाठक को क्रोध आ गया और उसने मक्खन के समीप आकर उसे मारना शुरू कर दिया। उसकी मां ने उसे तुरंत बचाया और पाठक को मारने लगी। उसने अपनी मां को धक्का दे दिया। धक्के से फिसलते हुए उसकी मां ने कहा—"अच्छा, तू अपनी मां को भी मारना चाहता है।"

ठीक उसी समय वह अधेड़ आयु का व्यक्ति घर में आया और कहने लगा—"क्या किस्सा है?"

पाठक की मां ने पीछे हटकर आने वाले को देखा और तुरंत ही उसका क्रोध आश्चर्य में परिवर्तित हो गया, क्योंकि उसने अपने भाई को पहचाना और कहा—"क्यों दादा! तुम यहां? कैसे आए?" फिर उसने नीचे को झुकते हुए उसके चरण छुए।

उसका भाई विशम्भर, उसके विवाह के पश्चात बम्बई चला गया था। वह व्यापार करता था। अब कोलकाता अपनी बहन से मिलने आया था, क्योंकि बहन के पति की मृत्यु हो चुकी थी।

कुछ दिन तो बड़ी प्रसन्नता के साथ बीते। एक दिन विशम्भर ने दोनों लड़कों की पढ़ाई के विषय में पूछा।

उसकी बहन ने कहा—"पाठक हमेशा दुख देता रहता है और बहुत चंचल है, किंतु मक्खन पढ़ने का बहुत इच्छुक है।"

यह सुनकर उसने कहा—"मैं पाठक को बम्बई ले जाकर पढ़ाऊंगा।"

पाठक भी चलने के लिए तैयार हो गया। मां के लिए यह बहुत हर्ष की बात

थी, क्योंकि वह हमेशा डरा करती थी कि कहीं किसी दिन पाठक मक्खन को नदी में न डुबो दे या उसे जान से न मार डाले।

पाठक प्रतिदिन मामा से पूछता था कि तुम किस दिन चलोगे। आखिर चलने का दिन आ ही गया। उस रात पाठक से सोया भी न गया। सारा दिन जाने की खुशी में इधर-उधर फिरता रहा। उसने अपनी मछली पकड़ने की हत्थी, पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े और बड़ी पतंग भी मक्खन को दे दी, क्योंकि उसे जाते समय मक्खन से सहानुभूति-सी हो गई थी।

बम्बई पहुंचकर पाठक अपनी मामी से पहली बार मिला। वह उसके आने से कुछ प्रसन्न न हुई, क्योंकि उसके तीन बच्चे ही काफी थे, एक और चंचल लड़के का आ जाना उसके लिए आपत्ति थी।

ऐसे लड़के के लिए उसका अपना घर ही स्वर्ग होता है। उसके लिए एक नए घर में नए लोगों के साथ रहना बहुत कठिन हो गया।

पाठक को यहां पर सांस लेना भी कठिन हो गया। वह रात को हर रोज अपने नगर के स्वप्न देखा करता और वहां जाने की इच्छा करता रहता। उसको वह स्थान याद आता था, जहां वह पतंग उड़ाता था और जहां वह जब कभी चाहता जाकर स्नान करता था। मां का ध्यान उसे दिन-रात विकल करता रहता। उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गई...अब स्कूल में उससे अधिक कमजोर कोई विद्यार्थी न था। जब कभी उसका अध्यापक उससे कोई प्रश्न करता तो वह मौन खड़ा हो जाता और चुपचाप अध्यापक की मार सहन करता। जब दूसरे लड़के खेलते तो वह अलग खड़ा होकर घरों की छतों को देखा करता।

एक दिन उसने बहुत साहस करके अपने मामा से मालूम किया—"मामाजी! मैं कब तक घर जाऊंगा?"

मामा ने उत्तर दिया—"जब तक कि छुट्टियां न हो जाएं।"

किंतु छुट्टियों में अभी बहुत दिन शेष थे, इसलिए उसको काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस बीच में एक दिन उसने अपनी किताब खो दी। अब उसको अपना पाठ याद करना बहुत कठिन हो गया। प्रतिदिन उसका अध्यापक उसे बड़ी निर्दयता के साथ पीटता था। उसकी दशा इतनी खराब हो गई कि उसके मामा के बेटे उसे अपना कहते हुए शरमाते थे।

पाठक मामी के पास गया और कहने लगा—"मैं स्कूल नहीं जाऊंगा। मेरी पुस्तक खो गई है।"

मामी ने क्रोध से अपने होंठों को चबाते हुए कहा—"दुष्ट! मैं तुझको कहां से महीने में पांच बार पुस्तक खरीदकर दूं?"

इस समय पाठक के सिर में दर्द उठा। वह सोचता था कि मलेरिया हो जाएगा, किंतु सबसे बड़ा सोच-विचार यह था कि बीमार होने के पश्चात वह घर वालों के लिए एक आपत्ति बन जाएगा।

दूसरे दिन प्रातः पाठक कहीं भी दिखाई न दिया। उसको चारों तरफ खोजा गया, किंतु वह न मिला। वर्षा बहुत अधिक हो रही थी और वे व्यक्ति जो उसे खोज रहे थे, बिल्कुल भीग गए थे। आखिरकार विशम्भर ने पुलिस को सूचना दे दी।

दोपहर के समय पुलिस का सिपाही विशम्भर के द्वार पर आया। वर्षा अब भी हो रही थी और सड़कों पर पानी भरा हुआ था। दो सिपाही पाठक को हाथों पर उठाए हुए लाए और विशम्भर के सामने रख दिया। पाठक के पूरे शरीर पर सिर से लेकर पांव तक कीचड़ लगी हुई थी और उसकी आंखें ज्वर से लाल थीं। विशम्भर उसको घर के अंदर ले गया। जब उसकी पत्नी ने पाठक को देखा तो कहने लगी—"यह तुम क्या आपत्ति ले आए हो? अच्छा होता जो तुम इसको इसके घर भिजवा देते।"

पाठक ने यह शब्द सुने और सिसकियां लेकर कहने लगा—"मैं घर जा तो रहा था, लेकिन वे दोनों मुझे जबर्दस्ती ले आए।"

ज्वर बहुत तेज हो गया था। सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। विशम्भर एक डॉक्टर को लाया। पाठक ने आंखें खोलीं और छत की ओर देखते हुए कहा—"छुट्टियां आ गई हैं क्या?"

विशम्भर ने उसके आंसू पोंछे और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसके सिरहाने बैठ गया। पाठक ने फिर बड़बड़ाना शुरू किया—"मां, मां! मुझे इस प्रकार न मारो, मैं सच-सच बताता हूं।"

दूसरे दिन पाठक कुछ होश में आया। उसने कमरे में चारों ओर देखा और एक ठण्डी सांस लेते हुए अपना सिर तकिए पर टिका दिया।

विशम्भर समझ गया और अपना मुख उसके पास लाते हुए कहने लगा—"पाठक! मैंने तुम्हारी मां को बुलाया है।"

पाठक फिर उसी प्रकार चिल्लाने लगा। कुछ घंटों के पश्चात उसकी मां रोते हुए कमरे में आई। विशम्भर ने उसको चुप रहने के लिए कहा, किंतु वह न मानी और अपने आपको पाठक की चारपाई पर गिरा लिया और चिल्लाते हुए कहने लगी—"पाठक! मेरे प्यारे बेटे पाठक!"

पाठक की सांस कुछ समय के लिए रुकी, उसकी नाड़ी हल्की पड़ी और उसने एक सिसकी ली।

उसकी मां फिर चिल्लाई—"पाठक! मेरे आंख के तारे, मेरे हृदय की कोयल!"

पाठक ने बहुत धीरे-से अपना सिर दूसरी ओर किया और बिना किसी ओर देखते हुए कहा—"मां! क्या छुट्टियां आ गई हैं?"

# भाई-भाई

दम्मी और छदामी दोनों भाई भोर होते ही जब हंसिया-गंडासा हाथ में पकड़े काम पर निकले, तब उन दोनों की घरवालियों में बड़े जोर की जंग शुरू हो गई। आस-पास के लोग कुदरत की अनेक प्रकार की खटपट और शोर की भांति इस घर के झगड़े और उससे पैदा हुए कोलाहल के आदी बन गए थे। जोर की चीख-पुकार और औरतों की गाली-गलौज कान में पड़ते ही लोग आपस में कहने लगते—'लो, हो गईं शुरू।'

यानी जैसी कि आशा थी, आज भी उस कुदरती सिद्धांत में कोई अंतर नहीं पड़ा। भोर होते ही पूरब में सूर्य के उदय होने पर जैसे कोई सूर्य से उसका कारण पूछने की धृष्टता नहीं करता, ठीक वैसे ही कोरियों के इस घर में जब दोनों गृहिणियों में लड़ाई और गाली-गलौज शुरू हो जाती तो फिर उसका कारण जानने के लिए आस-पास के किसी भी व्यक्ति को किंचित मात्र भी आश्चर्य नहीं होता।

हां, इतना अवश्य है कि वह कलह या रोज-रोज का झगड़ा आस-पास के लोगों की अपेक्षा दोनों भाइयों को बहुत परेशान करता है, परंतु फिर भी वे इसे विशेष परेशानियों में नहीं गिनते। उन दोनों के मानसिक भाव ऐसे हैं, मानो दोनों भाई विश्व यात्रा का लम्बा सफर किसी इक्के में बैठकर काट रहे हैं और उसके दोनों बिना कमानी के पहियों के निरंतर घड़ंघड़ शब्द को उन्होंने जीवन-यात्रा के विधि-विहित सिद्धांतों में ही मिला लिया है, अपितु घर में जिस दिन कोई शोरगुल नहीं होता, उस दिन चारों ओर नीरवता-सी ही छाई रहती है। उस दिन किस प्रकार की मुसीबत आ जाए, इस बात का कोई मन में अनुमान भी नहीं कर सकता?

हमारी कहानी का कथानक जिस दिन से आरम्भ होता है, उस दिन संध्या को दोनों भाई मेहनत-मजदूरी करके थके-मांदे जब घर में वापस लौटे तो देखा कि उनके घर में सन्नाटे का साम्राज्य है।

बाहर काफी गर्मी है। दोपहर-भर खूब जोर की वर्षा हुई और अब भी मेघ गरज रहे हैं। हवा के चलने का चिन्ह तक भी नहीं। वर्षा के कारण घर के चारों ओर का जंगल और घास आदि बहुत ऊंचे-ऊंचे हो गए हैं। वहां से पानी में डूबे हुए पटसन के खेत में से दुर्गन्ध-सी निकल रही है और उसने चारों ओर मानो

एक चारदीवारी-सी खड़ी कर दी है। गुहाल के पास वाली छोटी-सी तलैया में मेढक टर्रा रहे हैं और संध्या का निस्तब्ध गगन मानो झींगुरों की ध्वनि से बिल्कुल पूर्ण-सा हो गया है।

समीप की बरसाती नदी नए-नए बादलों से घिरकर और भयानक रूप धारण करके आजादी का रसास्वादन कर रही है। अधिकांश खेती को डुबोकर नदी बस्ती की ओर मुंह उठाकर आगे बढ़ रही है। यहां तक कि उसने आस-पास के दो-चार आम, कटहल के वृक्षों को उखाड़कर धरा पर लिटा दिया है और उनकी जड़ें उसके पानी में से सिर उठाकर झांक रही हैं। मानो वे अपनी उंगलियों को गगन में फैलाकर किसी अंतिम अवलम्ब को पकड़ने का प्रयत्न कर रही हों।

दम्मी और छदामी उस दिन गांव के जमींदार के यहां गए थे। उस पार की रेती पर धान पक गए हैं। वर्षा के पूर्व ही धान काट लेने के लिए देश के निर्धन किसान और मजदूर सब अपने-अपने खेतों के काम पर पटसन काटने में लग गए हैं। केवल इन दोनों कोरियों को जमींदार के कारिन्दे जबरदस्ती बेगारी में पकड़कर ले गए थे। जमींदार की कचहरी के छप्परों में से पानी टपक रहा था। उसकी मरम्मत के लिए और कुछ टट्टियां बनाने के लिए वे दोनों सारा दिन परिश्रम करते रहे हैं। दो टुकड़े पेट में डालने तक का मौका नहीं मिला। कचहरी की ओर से थोड़े-से चने खाने को मिल गए थे। इसके अलावा हक की मजदूरी मिलना तो दूर की बात, वहां उन्हें गालियां और फटकार ही मिलीं। वे उनकी मजूरी से कहीं अधिक थीं।

कीच-गारे में से किसी प्रकार निकलकर और पानी में से होकर बड़ी मुश्किल से दोनों भाई संध्या के समय घर पहुंचे। देखा कि छोटी बहू चंदा छाती पर आंचल बिछाए चुपचाप औंधी पड़ी है। सावन की बदली की तरह उसने भी दिन-भर आंसू बहाकर आंखों को हल्का किया है और अब शांत होकर हृदय को खूब गरम कर रखा है और बड़ी बहू अपना मुंह फैलाए द्वार पर बैठी है। उसका डेढ़ साल का बच्चा लिख रहा था। दोनों भाइयों ने जब घर में पैर रखा तो देखा कि नंगा-धड़ंगा बच्चा चौक में एक ओर औंधा पड़ा सो रहा है।

भूख से व्याकुल दम्मी ने घर में घुसते ही कहा—"उठ, खाना परोस।"

बड़ी बहू राधा एक साथ जोर से जाग उठी, मानो कागज के ढेर में कोई चिंगारी पड़ गई हो। बोली—"खाने को है क्या, जो परोस दूं? चावल तू दे गया था, मैं क्या खुद जाकर कमा लाती?"

सारे दिन की थकान और डांट-फटकार सहने के बाद निराहार निरानंद अंधेरे में जलती हुई जेठाग्नि पर घरवाली के रूखे शब्द, विशेषकर आखिरी वाक्य

का छिपा हुआ बुराश्तोष दम्मी को सहसा न जाने कैसे सहन न हुआ? क्रोधित सिंह की तरह वह चिल्लाकर बोला—"क्या कहा?"

इतना कहकर उसी क्षण हंसिया उठाकर घरवाली के सिर पर दे मारा। राधा अपनी देवरानी के पास जाकर गिर पड़ी और वहीं पर दम तोड़ दिया।

चंदा के वस्त्र खून से लथपथ हो गए। वह 'हाय अम्मा, क्या हो गया?' कहकर क्रंदन कर उठी। छदामी ने आगे बढ़कर उसका मुंह दबा लिया। दम्मी हंसिया फेंककर गाल पर हाथ रखे भौचक्का होकर पृथ्वी पर बैठ गया। आवाज सुनकर बेटा जाग गया और भय के मारे चिल्लाकर रोने लगा।

बाहर का वातावरण तब तक पूर्ण रूप से शांत था। अहीरों के बालक गाय-भैंस चराकर वापस घर को लौट रहे थे। उस पार की रेती पर जो लोग धान काटने गए थे। वे पांच-पांच, सात-सात की टोली में एक छोटी-सी नाव पर बैठकर इस पार आकर अपनी मेहनत के पारिश्रमिक के रूप में दो-चार धान के पूले सिर पर लादे अपने-अपने घर जा पहुंचे थे।

गांव के रामलोचन चाचा डाकखाने में पत्र डालकर घर लौट आए थे और सब कामों से निबटकर चुपचाप बैठे तम्बाकू का मजा ले रहे थे।

एकाएक उन्हें याद आया कि उनके किसान दम्मी पर लगान के कुछ रुपए बाकी हैं, आज के दिन वह रुपए देने का वायदा कर गया था। यह सोचकर कि अब वह लौट आया होगा, रामलोचन कंधे पर दुपट्टा डालकर और हाथ में छतरी लेकर उसके घर की ओर चल दिए।

दम्मी और छदामी के घर में घुसते ही उनके रोंगटे खड़े हो गए। देखा तो घर में दिया तक नहीं जल रहा था। आंगन अंधेरे से भरा हुआ था और उस अंधेरे में दो-चार काली छाया-सी अस्पष्ट रूप में दिखाई दे रही थीं। रह-रहकर बरामदे में से किसी के रोने की आवाज आ रही थी और कोई उसे चुप कराने का प्रयत्न कर रहा था।

रामलोचन ने तनिक संकोच से पूछा—"दम्मी है क्या?"

दम्मी अब तक पाषाण प्रतिमा के समान चुपचाप बैठा था। अपना नाम सुनते ही सिसक-सिसककर अबोध बालक की तरह रोने लगा। छदामी झटपट बरामदे में से उतरकर रामलोचन चाचा के पास आंगन में आ खड़ा हुआ।

रामलोचन ने पूछा—"औरतें कलह करके मुंह फुलाए पड़ी होंगी, इसी से अंधेरा है, क्यों? आज तो दिन-भर चिल्लाती ही रही हैं।"

छदामी अभी तक इस निर्णय पर नहीं पहुंच पाया था कि क्या करना चाहिए। अनेक प्रकार की असंभव कल्पनाएं उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थीं।

अभी तक वह इसी निश्चय पर पहुंचा था कि कुछ रात बीते तो वह लाश को कहीं गायब कर देगा। इसी बीच चौधरी चाचा आ टपके, जिसकी उसे स्वप्न में भी आशा न थी। तुरंत ही उसे कोई जवाब न सूझा इसीलिए कह बैठा—"हां, आज बहुत झगड़ा हो गया।"

चौधरी रामलोचन बरामदे की ओर बढ़ते हुए बोले—"इसके लिए दम्मी क्यों आंसू बहा रहा है?"

छदामी ने देखा कि अब बचने की कोई आशा नहीं तो कह उठा—"लड़ते-लड़ते छोटी बहू ने बड़ी बहू के माथे पर हंसिया मार दिया है।"

इंसान आई हुई मुसीबत को ही बड़ा समझता है, उसके अलावा और भी कोई मुसीबत आ सकती है, यह बात शीघ्र ही उसके दिमाग में नहीं घुस पाती। छदामी उस समय इसी सोच में पड़ा हुआ था कि इस भयानक सजा के पंजे से कैसे छुटकारा मिले? लेकिन झूंठ उससे भी बढ़कर मुसीबत खड़ी कर सकता है, इस बात का उसे तनिक भी ध्यान न था। रामलोचन के पूछते ही तुरंत ही उसके दिमाग में जो उत्तर सूझा, वही उसने कह डाला। रामलोचन ने चौंककर पूछा—"ऐं, क्या कहा? मरी तो नहीं?"

छदामी ने उत्तर दिया—"मर गई!" इतना कहकर उसके पावों पर गिर पड़ा।

चौधरी महाशय बड़े असमंजस में फंस गए। सोचा कि भगवान ने न जाने संध्या समय कौन-सी मुसीबत में फंसा दिया? कचहरी में गवाही देते-देते प्राण खुश्क हो जाएंगे। छदामी ने किसी प्रकार भी उनके चरणों को नहीं छोड़ा और बोला—"चौधरी चाचा! अब मैं बहू को बचाने के लिए क्या करूं?"

अभियोगों के विषय में परामर्श देने में चौधरी रामलोचन गांव-भर के प्रधानमंत्री थे। उन्होंने तनिक विचारकर कहा—"देख एक काम कर, तू अभी दौड़कर थाने जा, कहना कि मेरे भाई दम्मी ने शाम के बाद घर आकर खाना मांगा था। खाना तैयार नहीं था, सो उसने अपनी बहू के माथे पर हंसिया मार दिया। मैं ठीक बता रहा हूं। ऐसा करने से तेरी बहू बच जाएगी।"

सुनकर छदामी का कण्ठ सूखने लगा, वह उठकर बोला—"चौधरी चाचा! बहू तो और मिल जाएगी, लेकिन भाई को फांसी हो जाने पर फिर भाई नहीं मिल सकेगा।"

जब उसने अपनी घरवाली के माथे पर दोष मढ़ा था, तब उसने ये बातें नहीं सोची थीं। भय के कारण एक बात मुंह से निकल गई, अब अलक्षित विचारों से उसका मन अपने लिए युक्तियां एकत्रित करने लगा।

चौधरी ने भी उसकी बात को युक्तिसंगत माना और बोले—"तब फिर जैसा

हुआ है, वैसा ही कहना। चारों ओर से बचाव होना तो बहुत कठिन है छदामी।"

चौधरी रामलोचन इतना कहकर वहां से चल दिए और देखते-ही-देखते सारे गांव में इस बात की चर्चा हो गई कि कोरियों के घर की छोटी बहू ने गुस्से में बड़ी बहू के सिर में हंसिया दे मारा है।

बांध टूटने पर जैसे ही बाढ़ आ जाती है, उसी प्रकार कोरियों के घर पुलिस आ धमकी। अपराधी और निरपराधी उन्हें देखकर घबरा उठे।

छदामी ने निर्णय किया कि जिस राह को अपनाया है, उसे उसी पर चलना ठीक होगा। क्योंकि उसने चौधरी चाचा के सामने जो बात कह डाली है, उसे गांव का बच्चा-बच्चा जान गया है। अब यदि पुलिस से और कोई बात कही जाए तो न जाने उसका नतीजा क्या निकले?

उसकी बुद्धि मारी गई। उसने अपनी बहू से अनुरोध किया कि वह इस बात को अपने ऊपर ले ले। सुनते ही उस पर मानो ज्वालामुखी-सा फट पड़ा। उसने धीरज बंधाते हुए कहा—"अरी पगली! ऐसा करने में किसी बात का डर नहीं है, हम लोग तुझे जरूर बचा लेंगे।"

धीरज बंधा तो सही, पर उसका गला सूख गया और चेहरे का रंग पीला पड़ गया।

चंदा की आयु सत्रह-अठारह वर्ष के लगभग होगी। चेहरा भरा हुआ और गोल-मटोल, बदन मंझोला और गठा हुआ, अंग-प्रत्यंग सौष्ठव से परिपूर्ण, चाल अति सुंदर, आस-पास के लोगों के घर जाकर गपशप करना उसकी दिनचर्या है और बगल में पानी की गागर लिए पनघट जाते समय वह दो अंगुलियों से घूंघट में तनिक-सा छेद करके चमकीली चंचल काली आंखों से जो कुछ देखने लायक वस्तु होती, उसे देख लिया करती है।

बड़ी बहू उसके ठीक उल्टी थी, आलसिन, फूहड़ और बेशऊर सिर का कपड़ा या गोद का बच्चा अथवा घर का काम, कुछ भी उससे न संभलता था। हाथ में न तो कोई खास काम-काज होता और न फुरसत। छोटी बहू उससे अधिक कुछ कहती-सुनती न थी। हां, मीठे स्वर में ही दो-एक पैने दांत गड़ा देती और वह हाय-हाय, ही-ही करके क्रोध में बकती-झकती और इस प्रकार मुहल्ले भर की नाक में दम करती रहती।

पर इन दो गृहस्थियों में भी स्वभाव की आश्चर्यजनक एकता थी। दम्मी देह में कुछ लम्बा-चौड़ा, हट्टा-कट्टा है, चौड़ी हड्डियां, भद्दी नासिका, दुनिया से अनभिज्ञ आंखें, ऐसा भोला-भाला, किंतु भयानक आदमी कोई विरला ही होगा।

और छदामी ऐसा लगता था, जैसे किसी काले पत्थर को बड़ी मेहनत से तराशकर ईश्वर ने कोई प्रतिमा तैयार की हो।

तनिक भी कहीं बाहुल्य एवं समानता नहीं, उसका प्रत्येक अंग स्थूल एवं शक्ति से परिपूर्ण था! चाहे तो ऊंची-से-ऊंची चट्टान से नीचे कूद पड़े, चाहे तो किसी पेड़ की टहनियों को एकदम खाक कर दे। हरेक कार्य में उसके चातुर्य की स्पष्ट झलक दिखाई देती थी। वह बड़े-बड़े बालों को तेल में डुबोकर बड़े जतन से कंधे तक लटकाए रखता था...इससे स्पष्ट था कि वह अपनी देह की सजावट में विशेष रुचि रखता है।

दूसरे ग्रामवासियों के सौंदर्य की ओर से वास्तव में वह उदासीन न था, फिर भी वह अपनी घरवाली को बहुत चाहता था। दोनों में झगड़ा भी होता और मेल-जोल भी, परंतु कोई किसी को हरा नहीं पाता था? दोनों ही अनेक दावों को खेलते हुए जीवन की डगर में आगे बढ़े चले जा रहे थे।

इस दुर्घटना के कई दिन पहले से दंपती में बहुत अधिक तनातनी चल रही थी। बात यह थी कि चंदा ने देखा कि उसका घरवाला काम के बहाने कभी-कभी दूर चला जाता है। यहां तक कि वह कई बार दो-एक दिन बाहर बिताकर घर लौटता है और कुछ कमा-धमाकर लाता नहीं। उसके बुरे लक्षणों के कारण वह उस पर कड़ी नजर रखने लगी और ज्यादती भी करने लगी। उसने भी दिन-भर पनघट पर चक्कर काटने शुरू कर दिए और मोहल्ले-भर में अच्छी तरह घूम-फिरकर घर आकर काशी प्रसाद के मंझले बेटे की बहुत प्रशंसा करने लगती।

इससे परिणाम यह निकला कि छदामी के दिन और रातों में मानो किसी ने विष घोल दिया? अब काम-धंधे में उसे पल-भर के लिए भी चैन नहीं पड़ता। इसके लिए उसने एक बार भाभी को खूब डांटा-फटकारा। जवाब में भाभी ने खूब हाथ हिलाकर, झमक-झमककर उसके स्वर्गीय बाप को संबोधन करके कहना शुरू कर दिया—"वह औरत आंधी के आगे-आगे भागती है, उसे मैं संभालूं! मैं तो सब कुछ समझाती हूं, किसी दिन वह खानदान की आबरू मिट्टी में मिला देगी।"

बगल के कोठे में चंदा बैठी थी। उसने बाहर आकर धीमे स्वर में कहा—"दीदी! तुम्हें मुझसे इतना डर क्यों है?"

बस फिर क्या था, देखते-ही-देखते दोनों में महाभारत छिड़ गई।

छदामी ने गुर्राकर कहा—"देख, अगर फिर सुना कि तू अकेली पनघट पर गई है तो मैं तेरी हड्डी-पसली एक कर दूंगा।"

चंदा ने भभककर कहा—"तब तो मेरा कलेजा ठंडा हो जाएगा।" कहती हुई वह बाहर जाने को तैयार हो गई।

छदामी ने उसकी चुटिया घसीटकर उसे कोठे के भीतर धकेल दिया और बाहर से दरवाजे में ताला लगा दिया।

संध्या के समय जब छदामी घर वापस लौटा तो देखा कि कोठा खुला पड़ा है, उसमें कोई भी नहीं है। चंदा तीन गांव लांघकर सीधी अपनी नानी के घर पहुंच गई है।

छदामी बड़ी मुश्किल से घरवाली को मनाकर वहां से घर वापस लाया और अबकी बार उसने हार मान ली और फिर उसने चंदा के साथ किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की, लेकिन अब उसका मन अशांत रहने लगा। घरवाली के प्रति शंका के भाव उसके हृदय में शूल की तरह गड़ने लगे और जब कभी वह उसकी तीव्र पीड़ा से अधिक बेचैन हो जाता तो उसकी इच्छा होती कि काश, यह मर जाए तो मेरा पिंड छूटे। इंसान को इंसान से जितनी ईर्ष्या या जलन होती है, उतनी संभवतः यमराज को भी नहीं होती होगी।

इसी बीच घर में यह दुर्घटना घट गई।

चंदा से जब उसके घरवाले ने हत्या का दोष अपने ऊपर ले लेने के लिए कहा तो वह भौचक्की होकर उसे देखती रह गई। उसकी कजरारी आंखें अग्नि के समान छदामी को जलाने लगीं। उसका सारा शरीर और मन संकुचित होकर इस राक्षस के पंजे से निकलकर भागने का प्रयत्न करने लगा। उसकी अंतरात्मा अपने अपमान से विमुख होकर अपने ही घरवाले के प्रति विद्रोह कर बैठी।

छदामी ने उसे बहुत ढाढ़स बंधाया कि तुझे डरने की कोई जरूरत नहीं है। इसके बाद उसने थाने में और अदालत में जज के सामने उसे क्या कहना होगा, बार-बार सिखा-पढ़ाकर सब ठीक-ठाक कर दिया, लेकिन चंदा ने उसका लम्बा-चौड़ा व्याख्यान बिल्कुल भी नहीं सुना, वह पाषाण-प्रतिमा के समान वहां चुपचाप बैठी रही।

सभी कामों में दम्मी छदामी के भरोसे रहता है। छदामी ने जब चंदा पर सारा दोष मढ़ने की बात कही तो दम्मी ने पूछा—"फिर बहू का क्या होगा?"

छदामी ने कहा—"उसे मैं बचा लूंगा।"

भाई की बात सुनकर 'हां-हां' कहकर दम्मी निश्चिंत हो गया।

छदामी ने चंदा को सिखा दिया था कि तू कहना दीदी मुझे हंसिया लेकर मारने आई थी, सो मैं भी हंसिया लेकर उसे रोकने लगी, अचानक मेरा हंसिया उसके सिर में लग गया। ये सब बातें चौधरी रामलोचन की बनाई हुई थीं। इनके

अनुकूल जिन-जिन बातों और सबूतों की आवश्यकता थी, वे सब बातें भी उन्होंने विस्तार से छदामी को समझा दीं।

पुलिस ने आकर जोरों से तहकीकात करनी शुरू कर दी। लगभग सभी आस-पास के लोगों के मन में यह बात घर कर गई थी कि चंदा ने ही अपनी जेठानी की हत्या की है। सभी गांव वालों के बयानों से ऐसा ही सिद्ध हुआ। पुलिस की ओर से जब पूछा गया तो उसने कहा—"हां, मैंने ही खून किया।"

"क्यों खून किया?"

"मुझसे वह डाह रखती थी।"

"कोई झगड़ा हुआ था?"

"नहीं।"

"वह तुम्हें पहले मारने आई थी?"

"नहीं।"

"उसने तुम पर किसी किस्म का अत्याचार किया था?"

"नहीं।"

इस प्रकार का उत्तर सुनकर सब चंदा को देखते रह गए।

छदामी घबराकर बोला—"यह ठीक नहीं कह रही है। पहले बड़ी बहू...।"

थानेदार ने उसे डांटकर चुप करा दिया। अंत तक अनेक बार जिरह करने पर भी वही एक प्रकार का उत्तर मिला। बड़ी बहू की ओर से किसी प्रकार का हमला होना चंदा ने किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया। ऐसी जिद्दी औरत शायद ही कहीं देखने में आई हो। वह तो जी-जान से कोशिश करके फांसी के तख्ते की ओर झुकी जा रही है, किसी भी तरह रोके नहीं रुक सकती? यह कैसा रूठना है? चंदा शायद मन-ही-मन कह रही थी कि मैं तुम्हें छोड़कर अपनी इस जवानी को लेकर फांसी के तख्ते पर चढ़ जाऊंगी, फांसी को गले लगाऊंगी, मेरे इस जन्म का आखिरी बंधन उसी के साथ है। बंदिनी होकर चंदा फिर परिचित गांव के रास्ते से, जगन्नाथजी के शिवालय के पास से, बीच बाजार से, घाट के तट से, मजदूरों के घर के सामने से, डाकखाना और स्कूल की बगल से, सभी परिचित लोगों की आंखों के सामने से कलंक का दाग अपने माथे पर लगाकर सदैव के लिए घर छोड़कर चली गई। गांव के बालकों का एक झुंड पीछे-पीछे चला आ रहा था और गांव की औरतें, उसकी सखी-सहेलियां, कोई घूंघट की सेंध में से, कोई दरवाजे की बगल में से और कोई वृक्ष की ओट में से सिपाहियों से घिरी चंदा को जाती देख लज्जा से, घृणा से और भय से रोमांचित हो उठीं।

डिप्टी मजिस्ट्रेट के सामने चंदा ने अपना ही दोष स्वीकार किया और दुर्घटना

से पहले बड़ी बहू ने उस पर किसी प्रकार की ज्यादती या जुल्म किया था, यह बात उसके मुंह से किसी भी प्रकार निकली ही नहीं?

पर छदामी उस दिन गवाह के रूप में कचहरी में पहुंचते ही रो दिया और डिप्टी मजिस्ट्रेट के सामने हाथ जोड़कर बोला—"दुहाई है हुजूर, मेरी बहू का कोई कसूर नहीं?"

हाकिम ने रोबीले स्वर में उसे रोककर प्रश्न-पर-प्रश्न करना शुरू किया। उसने एक-एक करके सारी-की-सारी सच्ची वारदात कह सुनाई।

पर हाकिम ने उसकी बात का विश्वास नहीं किया। कारण, गांव के चौधरी रामलोचन ने गवाह के रूप में कहा—"खून होने के थोड़ी देर बाद मैं इनके घर पहुंचा था। गवाह छदामी ने सब बातें कबूल करके मेरे पैरों में गिरकर कहा था—'बहू को किस प्रकार बचाऊं, कोई सलाह दीजिए। गवाह ने मुझसे कहा कि मैं यदि कहूं कि बड़े भाई ने खाने को मांगा था, सो उसने दिया नहीं। इस पर गुस्से में आकर भाई ने अपनी घरवाली पर हंसिया का वार किया, जिससे उसने उसी समय दम तोड़ दिया तो वह बच जाएगा।'

मैंने कहा—'खबरदार हरामजादे, अदालत में एक कथन भी झूठ न बोलना, इससे बढ़कर महापाप और नहीं है...।' हुजूर यही सच है।"

रामलोचन ने पहले चंदा को बचाने के लिए बहुत-सी बातें बना ली थीं, किंतु जब देखा कि चंदा खुद ही अड़कर फंस रही है, तब सोचा कि कहीं मुझे ही झूठी गवाही में न फंसना पड़े। इससे जितना जानता हूं, उतना ही कहना अच्छा है। यह सोचकर उन्होंने उतना ही कहा और उसे कहने में किसी भी किस्म की कोई कसर उठाकर न रखी।

डिप्टी मजिस्ट्रेट ने समय आने पर इस केस को सेशन के सुपुर्द कर दिया।

इस बीच खेतीबारी, हाट-बाजार, रोना-हंसना आदि संसार के सभी काम पहले की तरह चलते रहे। पहले के समान सारे धान के खेतों में सावन के मेघ बरस उठे। पुलिस मुलजिम और गवाहों को लेकर सेशन जज की अदालत में पहुंची। अदालत लगी हुई थी। बहुत-से लोग अपने-अपने मुकदमे की पेशी के इंतजार में बैठे थे। कोई मुकदमा चल रहा था। छदामी ने खिड़की में से झांककर रोजमर्रा की इस आकुल-व्याकुल दुनिया को एक नजर से देखा। सब कुछ उसे सपना-सा महसूस हुआ। तभी अदालत के अहाते के भीतर के वटवृक्ष पर से एक कोयल कूक उठी!

अपनी पेशी पर चंदा ने झुंझलाकर जज से कहा—"अरे साहब! एक ही बात को बार-बार कितनी बार बताऊं।"

जज ने उसे समझाते हुए पूछा—"तुम जिस दोष को अपने ऊपर पर ले रही हो, उसकी सजा जानती हो, क्या है?"

चंदा ने कहा—"नहीं।"

जज ने मुस्कराते हुए कहा—"फांसी यानी मौत।"

यह सुनते ही चंदा के होश उड़ गए। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"साहब, मैं आपके पैरों में पड़ती हूं, मुझे यही सजा दो, मुझसे अब दुनिया की बातें नहीं सही जातीं।"

जब छदामी को अदालत में पेश किया गया तो चंदा ने उसकी ओर से मुंह फेर लिया।

जज ने पूछा—"गवाह की ओर देखकर बताओ कि यह तुम्हारा कौन लगता है?"

चंदा ने अपने मुंह को हाथों से ढककर कहा—"यह मेरा घरवाला है साहब।"

जज—"क्या यह तुम्हें चाहता है?"

चंदा—"बहुत ज्यादा हुजूर।"

जज—"तुम उसे नहीं चाहती क्या?"

चंदा—"बहुत ज्यादा चाहती हूं हजूर।"

तभी छदामी ने बीच में ही कहा—"हजूर! खून तो मैंने किया है।"

जज ने प्रश्न किया—"क्यों?"

छदामी ने कहा—"खाने को मांगा था, सो उसने दिया नहीं, बस गुस्से में आकर मैंने उसके सिर में हंसिया मार दिया।"

दम्मी जब गवाही देने आया तो आते ही बेहोश होकर गिर पड़ा।

होश आने पर उसने कहा—"हुजूर! खून तो मैंने किया है।"

"क्यों?"

"खाने को मांगा था, सो उसने दिया ही नहीं, बस गुस्से में आकर मैंने उसके सिर में हंसिया मार दिया।"

बहुत जिरह और गवाहों के बयान के बाद जज ने साफ-साफ लिखा कि बहू को फांसी से बचाने के लिए दोनों भाई हत्या का आरोप मंजूर कर रहे हैं, लेकिन चंदा थाने से सेशन अदालत तक एक ही बात बराबर कहती आ रही है। उसकी बात में तनिक भी कहीं अंतर नहीं पड़ा। दो वकीलों ने स्वतः प्रवृत्त होकर उसे फांसी के फंदे से बचाने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन अंत में उन्हें भी हार माननी पड़ी।

जिस दिन तनिक-सी आयु में काली-सी तीखे नैन-नख्श वाली लड़की अपना

गोल-मोल चेहरा लिए, गुड्डा-गुड़िया फेंककर अपने माता-पिता का संग छोड़कर ससुराल आई थी। उस दिन रात को शुभ लग्न के वक्त आज की कौन सोच सकता था? उसके पिता ने अंतिम समय में यह कहा था कि खैर, कुछ भी हो मेरी लड़की ठीक ठिकाने से लग गई।

फांसी से पूर्व जेलखाने में सिविल सर्जन ने चंदा से पूछा—"किसी को देखने की इच्छा हो तो बोलो?"

चंदा ने उत्तर दिया—"बस एक बार अपनी मां को देखना चाहती हूं।"

सिविल सर्जन ने पुन: कहा—"तुम्हारा घरवाला तुमसे मिलना चाहता है, यदि तुम चाहो तो उसे बुलवा लिया जाए।"

चंदा ने उद्विग्न होकर कहा—"उहूं हूं, मौत भी नहीं आई।"

# धन की भेंट

वृन्दावन कुण्डू क्रोधावेश में अपने पिता के पास आकर कहने लगा—"मैं इसी समय आपसे विदा लेना चाहता हूं।"

उसके पिता जगन्नाथ कुण्डू ने घृणा प्रकट करते हुए कहा—"अभागे! कृतघ्न! मैंने जो रुपया तेरे पालन-पोषण पर खर्च किया है, उसे चुकाकर ही ऐसी धमकी देना।"

जिस प्रकार का खान-पान जगन्नाथ के घर चला करता था, उस पर कुछ अधिक व्यय न होता था। भारत के प्राचीन ऋषि मितव्ययता के लिए ऐसी ही वस्तुओं का प्रबंध कर लिया करते थे। जगन्नाथ के व्यवहार से ज्ञात होता था कि वह इस विषय में उन ऋषियों ही के निर्मित आदर्शों पर चलना पसंद करता था। यद्यपि वह पूर्ण रूप से इस आदर्श को निभाने में असमर्थ था। इसका कारण कुछ यह समझा जा सकता है कि जिस समाज में उसका रहन-सहन था, वह अपने प्राचीन आदर्शों से बहुत पतित हो चुका था और कुछ यह कि उसकी आत्मा को शरीर के साथ मिलाए रखने के विषय में प्रकृति की उत्तेजना तीव्र और युक्ति-संगत थी।

जब तक वृन्दावन अविवाहित था, उसका निर्वाह जैसे-तैसे चल जाता था, किंतु विवाह के पश्चात उसने सीमा से बाहर इस उत्तम और सुंदर आदर्श को, जो उसके महामना पिता ने निर्मित कर रखा था, त्यागना शुरू कर दिया। ऐसा ज्ञात होता था कि सांसारिक सुख-ऐश्वर्य के संबंध में उसके विचार आध्यात्मिक से शारीरिक की ओर परिवर्तित हो रहे हैं और खाने-पीने की न्यूनता से उसे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि जो कष्ट भी सामने आते हैं, उसने उन्हें सहना पसंद न करके संसार के साधारण व्यक्तियों के आचरण का अनुकरण करना शुरू कर दिया।

जबसे वृन्दावन ने अपने पिता के निर्मित उच्च आदर्श को त्यागा, तभी से पिता और पुत्र में कलह आरम्भ हो गई। इस कलह ने चरम-सीमा का रूप उस समय धारण किया, जब वृन्दावन की पत्नी बहुत ज्यादा बीमार पड़ गई और इलाज के लिए एक वैद्यराज को बुलाया गया। यहां तक का व्यवहार भी क्षमा करने के योग्य था, किंतु जब वैद्यराज ने रोगी के लिए एक महंगी औषधि का निर्णय लिया तो जगन्नाथ ने समझ लिया कि वैद्यराज अयोग्य है और वैद्यक के नियमों से बिल्कुल

अपरिचित है। बस उसने उसी समय उनको मकान से बाहर निकलवा दिया। वृन्दावन ने पहले तो पिता से काफी अनुनय-विनय की कि औषधि जारी रहे, फिर झगड़ा भी किया, परंतु पिता के कान पर जूं तक न रेंगी। अंत में जब पत्नी स्वर्ग सिधार गई तो वृन्दावन का क्रोध अधिक बढ़ गया और उसने अपने पिता को उसका प्राण-हंता ठहराया।

जगन्नाथ ने स्वभावानुसार उसको समझाने का बहुत प्रयत्न किया और कहा—"तुम कैसी नासमझी की बातें करते हो? क्या लोग विभिन्न प्रकार की औषधि खाकर नहीं मरते! यदि मूल्यवान औषधियां ही मनुष्य को जीवित रख सकतीं तो बड़े-बड़े राजा-महाराजा क्यों मरते? इससे पहले तुम्हारी मां और दादी मर चुकी हैं, बहू मर गई तो क्या हुआ? समय आने पर प्रत्येक व्यक्ति को यहां से जाना है।"

वृन्दावन यदि इस प्रकार दुखी और सचेत होकर वास्तविक् परिणाम पर पहुंचने में योग्य न होता तो संभव था कि वह इन बातों से कुछ सांत्वना प्राप्त कर लेता। इससे पहले मरने के समय उसकी मां और दादी ने औषधि नहीं पी थी और औषधि सेवन न करने की यह रीति बहुत पहले से इस खानदान में चली आ रही थी। नई पौध का चरित्र इतना बिगड़ चुका है कि वह पुराने ढंग पर मरना भी पसंद नहीं करती।

जिस युग की हम चर्चा कर रहे हैं, उन दिनों अंग्रेज भारत में नए-नए आए थे, किंतु उस समय भी इस देश के बड़े-बूढ़े अपनी-अपनी औलाद के स्वभाव-विरुद्ध ढंग पर आश्चर्य और विकलता प्रकट किया करते थे और अंत में जब उनकी एक नहीं चलती थी तो अपने मुंह से लगे हुए हुक्कों से सांत्वना प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।

वास्तविकता यह है कि जिस समय मामला चरम-सीमा पर पहुंच गया तो वृन्दावन से न रहा गया और उसने आवेश तथा विकलता के साथ अपने पिता से कहा—"मैं जाता हूं।"

पिता ने उसे दृढ़ देखकर उसी समय आज्ञा दे दी तथा घोषणा करते हुए कह दिया—"चाहे देवता मेरे ढंग को गो-हत्या के समान क्यों न समझे, मैं शपथ खाकर कहता हूं कि तुम्हें अपनी धन-सम्पत्ति से एक कौड़ी भी नहीं दूंगा।"

"यदि मैं तुम्हारी एक पाई को भी हाथ लगाऊं तो उस व्यक्ति से भी नीच होऊंगा, जो अपनी मां को बुरे भाव से देखता है।" वृन्दावन के मुख से आवेश में निकल गया।

गांववासियों ने अपने जैसे विचारों के, लम्बे-चौड़े वाद-विवाद के पश्चात उस

छोटे-से परिवर्तन-भरे झगड़े को संतोषपूर्वक देखा। जगन्नाथ ने चूंकि अपने बेटे को अपनी सम्पत्ति से वंचित कर दिया था, अतः प्रत्येक व्यक्ति उसे सांत्वना देने का प्रयत्न कर रहा था। वे सब इस विषय पर सहमत थे कि केवल पत्नी की खातिर पिता के साथ झगड़ा करने का दृश्य इस नए युग में ही देखा जा सकता है। इसके संबंध में वे स्वयं जो कारण बताते थे। वे भी बहुत असंगत थे। वे कहते थे यदि किसी की पत्नी मर जाए तो बड़ी सरलता से दूसरी प्राप्त कर सकता है, पिता मर जाए तो संसार-भर के धन और ऐश्वर्य के बदले में भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता।

इस बात में संदेह नहीं कि उनका उपदेश हर प्रकार से ठीक था, किंतु हमें संदेह है कि दूसरा पिता प्राप्त करने की पीड़ा उस पथ-भ्रष्ट बेटे को कहां तक प्रभावित कर सकती थी। इसके विरुद्ध हमारा विचार यह है कि यदि ऐसा अवसर आता तो वह उसे ईश्वरीय अनुकम्पा में शामिल समझता।

वृन्दावन के अलग होने का दुख उसके पिता जगन्नाथ को तनिक भी नहीं हुआ। इसके कुछ विशेष कारण थे। एक तो यह कि उसके चले जाने से घर का खर्च कम हो गया था, दूसरे हृदय से एक भारी चिंता दूर हो गई। हर समय उसे इस बात का भय रहता था कि मेरा बेटा मुझे विष देकर न मार डाले। जब कभी वह अपना थोड़ा-सा भोजन करने बैठता तो यही विचार उसे परेशान कर देता कि इसमें विष न मिला हुआ हो। यही चिंता किसी सीमा तक वृन्दावन की पत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर दूर हो गई थी, किंतु अब वह बिल्कुल ही न रही।

जिस प्रकार घने अंधियारे बादलों में चमकती बिजली और भयंकर तूफानी समुद्र में बहुमूल्य रत्न विद्यमान रहते हैं। उसी प्रकार बूढ़े जगन्नाथ के कठोर हृदय में भी एक निर्बलता शेष थी। वृन्दावन जाते समय अपने साथ अपने चार-वर्षीय पुत्र गोकुलचन्द को भी ले गया था, क्योंकि उसकी खुराक और वस्त्रों का खर्च बहुत न्यून था, इसलिए जगन्नाथ को उससे बहुत प्रेम था। जाते समय जब वृन्दावन उसे अपने साथ ले गया तो सबसे पहले दुख और पछतावे की अपेक्षा जगन्नाथ ने मन-ही-मन हिसाब लगाना शुरू किया कि इन दोनों के चले जाने से खर्च में कितनी कमी हो जाएगी। इस बचत की वार्षिक रकम कहां तक पहुंचेगी और इस बचत को यदि किसी रकम का सूद समझा जाए तो उसका मूलधन कितना हो सकेगा?

जब तक गोकुलचन्द घर में था, वह अपनी चंचलता से जगन्नाथ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित रखता था, लेकिन उसके चले जाने पर कुछ दिनों में ही बूढ़े को ऐसा महसूस होने लगा कि घर काटने को दौड़ता है। इससे पहले जिस समय जगन्नाथ पूजा-पाठ में तल्लीन होता था तो गोकुलचन्द उसे छेड़ा करता

था। भोजन करते समय उसके आगे से रोटी या चावल उठाकर भाग जाता और स्वयं खा लेता था। जब वह आय-व्यय लिखने बैठता तो उसकी दवात लेकर दौड़ जाता था, किंतु अब उसके चले जाने पर ये सब बातें भी दूर हो गईं। जीवन में प्रतिदिन का क्रिया-कलाप उसे भार अनुभव होने लगा। उसे ऐसा महसूस होता था कि इस प्रकार का विश्राम भविष्य के संसार में ही सहन किया जा सकता है। जब कभी वह गोकुल की चंचलता को स्मरण करता तो रजाइयों में उसके हाथों के छेदों या दरी पर कलम-दवात से उसके बनाए हुए भद्दे चित्रों को देखता तो उसका हृदय कष्ट के मारे बैठ जाता।

जगन्नाथ को अपने सोने के कमरे में एक कोने के अंदर पड़ी हुई पुरानी धोती के टुकड़े दिखाई पड़े। सहसा उसके नेत्रों से आंसू बह निकले। यह वही धोती थी, जिसे गोकुल ने दो वर्ष के अल्प समय में फाड़ दिया था, तब जगन्नाथ ने उसे झिड़का और बुरा-भला कहा था, मगर अब उसने इन टुकड़ों को उठाकर बड़ी सावधानी से अपने संदूक में रख लिया और इसकी शपथ खा ली कि यदि गोकुल उसके जीते जी फिर कभी वापस आ गया तो चाहे वह हर वर्ष एक धोती फाड़े, वह उससे कभी रुष्ट नहीं होगा।

परंतु गोकुल को न वापस आना था, न आया। गरीब जगन्नाथ दिन-प्रतिदिन वृद्ध होता जा रहा था और उसको खाली घर अत्यधिक भयानक दिखाई पड़ता था।

अंत में दशा यहां तक पहुंच गई कि वह आराम से घर में बैठ भी नहीं पाता था। दोपहर के समय जब गांव के सब लोग अपने-अपने घरों में सोए होते, तब जगन्नाथ नारियल हाथ में लेकर गलियों में घूमता दिखाई देता। गांव के लड़के जब कभी उसे अपनी ओर आता देखते तो खेल छोड़कर दूर जा खड़े होते और इस प्रकार की पद्य-पंक्ति गाने लगते, जिसमें एक स्थानीय कवि ने वृद्ध जगन्नाथ के मितव्ययी स्वभाव की प्रशंसा की थी। कोई व्यक्ति भय के मारे उसका वास्तविक नाम इस डर से जुबान पर न लाता था कि कहीं उसे उस रोज अन्न-जल प्राप्त न हो, अतः लोगों ने उसके अनेक प्रकार के नाम रख दिए थे। वृद्ध उसे जगन्नाथ कहा करते थे, लेकिन मालूम नहीं छोटे लड़के उसे चिड़ियल क्यों कहा करते थे। सम्भव है इसका कारण यह हो कि उसका चर्म शुष्क और शरीर रक्तहीन दिखाई देता था। इन्हीं कारणों से वह प्रेम आत्माओं के समान समझा जाता था।

एक दिन दोपहर के समय जब जगन्नाथ स्वभावानुसार गांव की गलियों में आम के छतनारे वृक्षों के नीचे अपना नारियल हाथ में लिए फिर रहा था तो

उसने देखा कि एक लड़का जो देखने में अपरिचित मालूम होता था। गांव के लड़कों का मुखिया बना हुआ है और उन्हें कोई नई शरारत समझा रहा है। उसके महान चरित्र और उसकी कुशाग्र बुद्धि से प्रभावित होकर सब लड़कों ने इस बात का निर्णय कर लिया था कि हर काम में उसकी आज्ञानुसार आचरण करेंगे। दूसरे लड़कों की भांति वह वृद्ध जगन्नाथ को अपनी ओर आता देखकर भय से भागा नहीं, बल्कि उसके समीप जाकर चादर झाड़ने लगा। उसी समय उसमें से एक जीवित छिपकली निकलकर जगन्नाथ पर गिरी और उसकी पीठ की ओर से नीचे उतरकर वन की ओर भाग गई। भय से वृद्ध के हाथ-पांव कांपने लगे। यह देखकर सब लड़के बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नता से उच्च-स्वर में नारे-से लगाने लगे। वृद्ध जगन्नाथ बड़बड़ाता और गालियां देता हुआ उनसे बहुत दूर निकल गया, किंतु वह अंगोछा जो प्रायः उसके कंधों पर पड़ा रहता था, सहसा गायब हो गया और दूसरे ही क्षण उस अपरिचित लड़के से सिर पर बंधी हुई पगड़ी के रूप में दिखाई देने लगा।

लड़के की ओर से इस प्रकार की चेष्टा देखकर जग्न्नाथ पहले तो कुछ चिंतित हुआ, फिर वह गांव की प्रतिदिन की कठोरता को इस प्रकार पराजित होते देखकर प्रसन्न भी हुआ। काफी दिनों से लड़के उसकी छाया को देखकर ही उससे दूर भाग जाया करते थे और उसे उनसे बोलने तथा बातचीत करने का अवसर ही न मिलता था। वह अपरिचित लड़का इस शरारत के बाद दूर भाग गया था, किंतु बहुत से वचन और सांत्वना देने के बाद वह उस वृद्ध के समीप आया। फिर दोनों में इस प्रकार से बातें होने लगीं—

"बेटा! तुम्हारा नाम क्या है?"

"नितईपाल।"

"घर कहां है?"

"मैं नहीं बताऊंगा।"

"क्यों नहीं बताओगे?"

"मैं घर से भागकर आया हूं।"

"भागे क्यों?"

"मेरा पिता मुझे स्कूल जाने को कहता था।"

जगन्नाथ के हृदय में विचार आया—'ऐसे होनहार लड़के को स्कूल भेजना कैसी व्यर्थ की बात है? वह कैसा लड़के के भविष्य के परिणाम की ओर से आंखें मीचे रहने वाला पिता होगा, जो इसे स्कूल भेजना चाहता है।'

थोड़ी देर बाद वह कहने लगा—"अच्छा! तुम मेरे घर रहना पसंद करोगे?"

"क्यों नहीं।" लड़के ने उत्तर दिया।

उसी दिन से वह लड़का उसके घर रहने लगा। उसे घर में प्रवेश करते हुए इतना भी भय न हुआ, जितना अंधेरे में किसी वृक्ष के नीचे जाने से हो सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि उसने अपने वस्त्र और भोजन के विषय में ऐसे निर्भयतापूर्ण ढंग से प्रश्न करने आरम्भ किए जैसे वह उस घर में वर्षों से परिवार का अंग रहा है। यदि कोई वस्तु उसकी इच्छानुसार न होती तो वह जगन्नाथ से झगड़ा आरम्भ कर देता। जगन्नाथ अपने बेटे को तो डरा-धमका भी लेता था, परंतु उसे बस में लाना सरल न था। उसे उसकी हर बात माननी पड़ती थी।

गांव के लोग आश्चर्य में थे कि जगन्नाथ ने नितईपाल को क्यों इस प्रकार सिर पर चढ़ा रखा है। यह सर्वविदित था कि वृद्ध अब कुछ दिन नहीं तो कुछ सप्ताह का अतिथि है और वे इस बात को सोचकर बहुत दुखित होते थे कि उसके स्वर्ग सिधारने पर उसकी सम्पत्ति का अधिकारी यही लड़का होगा। वे सब इस बात पर लड़के से ईर्ष्या करने लगे थे। उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया था कि उसे अवश्य हानि पहुंचाने का प्रयत्न करेंगे, परंतु जगन्नाथ उसकी ऐसी निगरानी रखता जैसे वह उसकी पसली की हड्डी हो।

कभी-कभी लड़का धमकी देकर कहता—"मैं घर चला जाऊंगा।"

ऐसे अवसर पर वृद्ध लोभ-लालच का जाल बिछाकर कहता—"मैं अपनी सारी सम्पत्ति तुमको ही दे दूंगा।"

लड़का हर प्रकार से कम आयु का था, तब भी इस वचन के महत्त्व को खूब समझता था।

गांव वालों से और कुछ न हो सका तो उन्होंने उस लड़के के बाप के संबंध में जांच-पड़ताल आरम्भ कर दी। उनको यह सोचकर बहुत दुख होता था कि उसके माता-पिता उसकी याद में दुखी होंगे। लड़का बड़ा चंचल है, जो उन्हें इस प्रकार छोड़कर भाग आया। वह इसे हजार-हजार गालियां देते होंगे, किंतु ये सब बातें वे जिस आवेश में करते थे, इससे स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे न्याय नहीं ईर्ष्या से काम ले रहे हैं।

एक दिन वृद्ध को किसी बटोही की जुबानी मालूम हुआ कि दामोदर पाल अपने बेटे की खोज में समीप के गांवों और कस्बों में फिर रहा है और कुछ ही समय में वह इस गांव में आना चाहता है। नितई ने जब यह बात सुनी तो सहज भाव से उसके हृदय के प्रेम में आवेश आया। वह उद्विग्नता की दशा में धन-सम्पत्ति छोड़कर अपने पिता के पास जाने को तैयार हो गया। जगन्नाथ उसे रोकने के लिए प्रत्येक सम्भव रीति से प्रयास करता था, अतः उसने कहा—"तुम

अपने पिता के पास जाओगे तो वह तुम्हें पीटेगा। मैं तुम्हें ऐसे स्थान पर छिपा दूंगा कि किसी को भी तुम्हारा पता नहीं चल सकेगा। यहां तक कि गांव वाले भी मालूम नहीं कर सकेंगे!"

इस बात से लड़के के हृदय में आश्चर्य उत्पन्न हुआ और वह कहने लगा—"बाबा! मुझे कहां छिपाओगे? वह स्थान तो मुझे भी दिखा दो?"

"यदि वह स्थान मैं इस समय दिखा दूं तो लोगों को खबर हो जाएगी, रात हो जाने दो।" जगन्नाथ ने उत्तर दिया।

बच्चों में आश्चर्यजनक स्थान देखने की उत्कट लालसा होती है। नितई भी उसी तरह यह बात सुनकर प्रसन्न हुआ। उसने अपने हृदय में विचारा—'जब मेरे पिता मेरी खोज करने के पश्चात वापस चले जाएंगे तो मैं दौड़ लगाकर लड़कों के साथ उस स्थान पर आंख-मिचौली खेला करूंगा और कोई मालूम न कर सकेगा कि मैं कहां छिपा हूं? वास्तव में उस समय बड़ा आनंद आएगा। पिताजी पूरा गांव छान मारेंगे और मुझे कहीं न पा सकेंगे, बड़ा मजा आएगा।

दोपहर के समय जगन्नाथ लड़के को कुछ समय के लिए मकान में बंद करके कहीं चला गया। उसके वापस आने पर नितई ने उससे इतने प्रश्न किए कि वह परेशान हो गया।

अंत में जब रात हुई तो नितई कहने लगा—"बाबा! अब तो वह स्थान मुझे दिखा दो।"

"अभी रात नहीं हुई।" जगन्नाथ ने उत्तर दिया।

इसके कुछ समय पश्चात लड़के ने फिर कहा—"बाबा! अब बहुत रात हो गई है, अब तो चलो।"

"अभी गांव के लोग सोए नहीं हैं।" जगन्नाथ ने धीरे से कहा।

नितई फिर एक क्षण के लिए रुका और बोला—"बाबा! इस समय तो सब लोग सो गए हैं, आओ अब चलें।"

रात बहुत जा चुकी थी। गरीब लड़का इतनी देर तक कभी नहीं जागा था, इसलिए उसको जागे रहने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। अंत में आधी रात के समय जगन्नाथ लड़के की बांह पकड़कर स्वप्निल गांव की अंधेरी गलियों से रास्ता टटोलता बाहर निकला। सब दिशाएं सूनी थीं। चारों ओर सूनापन था, कभी-कभी कोई कुत्ता भौंकने लगता तो और कुत्ते भी उसके साथ मिलकर भौंकना शुरू कर देते। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उसके पैरों की आहट से कोई पक्षी वृक्ष की टहनी से पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ जाता। नितई भय से कांप रहा था, किंतु जगन्नाथ ने उसका हाथ दृढ़ता से पकड़ा हुआ था।

बहुत-से खेतों में से होकर अंत में वे दोनों जंगल में प्रविष्ट हुए। वहां एक जीर्ण मंदिर खड़ा हुआ था, जिसमें किसी भी देवता की मूर्ति दिखाई नहीं पड़ती थी।

नितई ने उसे देखकर निराशा-भरे स्वर में कहा—"बस, यही स्थान था?"

यह स्थान उसकी कल्पना से सर्वथा भिन्न था, क्योंकि उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। जब से वह घर से भागा था, अनेक बार ऐसे खंडहर, मंदिरों में रातें व्यतीत कर चुका था। इतना होने पर पर भी आंख-मिचौली खेलने के लिए यह स्थान सुंदर था, अर्थात ऐसा कि उसके साथ खेलने वाले लड़के यहां उसकी खोज न कर सकते थे।

जगन्नाथ ने फर्श के बीच से एक पत्थर की सिल उठाई। उसके नीचे लड़के को एक आश्चर्यचकित तहखाना दिखाई दिया, जिसमें एक धीमा-सा दीपक जल रहा था। भय और आश्चर्य दोनों बातें उसके हृदय पर जमी हुई थीं। अंदर एक बांस की सीढ़ी खड़ी थी। जगन्नाथ नीचे उतरने लगा और नितई भी उसके पीछे हो लिया।

नीचे उतरकर लड़के ने इधर-उधर देखा तो उसे चारों ओर पीतल के टोकने पड़े हुए दिखाई दिए। उसके मध्य में एक आसन बिछा हुआ था और सामने थोड़ा-सा सिंदूर, घिसा हुआ चंदन, कुछ जंगली फूल और पूजा की शेष सामग्री रखी हुई थी। लड़के ने अपनी जिज्ञासा-पूर्ति के लिए उन टोकनों में से कुछ के अंदर हाथ डाला और जब हाथ बाहर निकालकर देखा तो मालूम हुआ कि उनमें रुपए और सोने की मोहरें भरी हुई हैं। इतने में वृद्ध जगन्नाथ ने नितई से कहा—"नितई! मैंने तुमसे कहा था न कि मैं अपनी सारी सम्पत्ति तुम्हें दे दूंगा। मेरे पास कोई अधिक सम्पत्ति नहीं है, किंतु जो कुछ भी है वह इन पीतल के टोकनों में भरी हुई है और यह सब मैं आज तुम्हारे हवाले करना चाहता हूं।"

नितई प्रसन्नता के मारे उछल पड़ा और बोला—"सच! क्या तुम इनमें से एक रुपया भी अपने पास नहीं रखोगे?"

वृद्ध ने उत्तर दिया—"यदि मैं इसमें से कुछ लूं तो भगवान करे मेरा वह हाथ कोढ़ी हो जाए, किंतु यह सम्पत्ति मैं तुम्हें एक शर्त पर दे रहा हूं। यदि कभी मेरा पोता गोकुलचन्द या उसका भी पोता या परपोता या उसकी औलाद में से कोई व्यक्ति भी इस रास्ते से होकर गुजरे तो तुम्हारे लिए अनिवार्य होगा कि यह सारी सम्पत्ति उसको सौंप दो।"

लड़के ने थोड़ा ध्यान से सोचा और निश्चय के साथ विचारा—'लगता है वृद्ध पागल हो गया है।' फिर कहने लगा—"बहुत अच्छा, ऐसा ही करूंगा।"

"बस तो इस स्थान पर बैठ जाओ।" जगन्नाथ ने कहा।

"क्यों?"

"तुम्हारी पूजा की जाएगी।"

लड़के ने चकित होकर पूछा—"यही रीति है!"

वृद्ध ने उत्तर दिया—"यही रीति है।"

लड़का उछलकर तुरंत आसन पर बैठ गया। वृद्ध जगन्नाथ ने उसके माथे पर चंदन लगाया, भृकुटियों के मध्य सिंदूर की बिंदी लगाई, जंगली पुष्पों का हार उसके गले में डाला और कुछ मंत्र उच्चारण करने लगा।

बेचारा नितई देवता की भांति आसन पर बैठा-बैठा उकता गया, क्योंकि उसकी पलकें नींद से भारी हो रही थीं। अंत में उसने घबराकर कहा—"बाबा!"

परंतु जगन्नाथ उत्तर दिए बिना ही मंत्र पढ़ता रहा।

अंत में मंत्रों का सिलसिला समाप्त हुआ और जगन्नाथ ने बड़ी कठिनाई से एक टोकन को खींचकर लड़के के सम्मुख रखा और ये शब्द विवशता से उसके मुख से कहलवाए—"मैं सच्चे हृदय से प्रतिज्ञा करता हूं कि इस सारी धन-सम्पत्ति को गोकुलचन्द कुण्डू के बेटे, पोते, परपोते या उसकी औलाद के किसी व्यक्ति को जो इसका वास्तविक और योग्य उत्तराधिकारी होगा, दे दूंगा।"

अनेक बार शब्दों के दोहराने से भोले लड़के की चेतना जाती रही और कण्ठ सूखने लगा। जैसे-तैसे यह रस्म समाप्त हुई। गुफा की वायु दीपक के धुएं और उन दोनों की सांस के कारण बुरी मालूम होने लगी। नितई को अपना कण्ठ मिट्टी की भांति सूखा और हाथ-पांव जलते हुए अनुभव हो रहे थे। बेचारे का दम घुटा जा रहा था।

दीपक धीरे-धीरे मद्धिम होता गया। यहां तक कि अंतिम झोंका खाकर बुझ गया। इसके पश्चात अंधेरा। नितई को ऐसे लगा कि वृद्ध जल्दी-जल्दी सीढ़ी से ऊपर चढ़ रहा है। उसने घबराकर पूछा—"बाबा! तुम कहां जा रहे हो?"

जगन्नाथ ने निरंतर ऊपर चढ़ते हुए उत्तर दिया—"मैं अब जाता हूं, तुम यहां रहो, यहां तुम्हें कोई ढूंढ़ नहीं सकेगा। वृन्दावन के बेटे और जगन्नाथ के पोते गोकुलचन्द का नाम याद रखना।"

इसके पश्चात उसने ऊपर जाकर सीढ़ी खींच ली। लड़के ने अवरुद्ध और दयनीय स्वर में कहा—"मैं अब अपने पिता के पास जाना चाहता हूं। यहां मुझे डर लग रहा है।"

जगन्नाथ ने उसकी परवाह न करते हुए गुफा के मुंह पर पत्थर की शिला रख दी। इसके पश्चात दोनों जंघाओं को मोड़कर झुका और अपने कान पत्थर के समीप लगाकर सुनने लगा। अंदर से आवाज आई 'बाबाजी! बाबाजी!' फिर किसी

भारी वस्तु के फर्श पर गिरने की आवाज सुनाई दी और इसके बाद वहां खामोशी छा गई।

इस प्रकार अपनी सम्पत्ति उसको सौंपकर वृद्ध जगन्नाथ ने जल्दी-जल्दी पत्थर के ऊपर मिट्टी डालनी आरम्भ कर दी। उस पर उसने टूटी-फूटी ईंटें और चूना रख दिया और फिर मिट्टी बिछाकर उसमें जंगली घास और बूटियों की जड़ें गाड़ दीं।

रात संभवतः समाप्त हो चुकी थी, लेकिन उस स्थान से हटकर वह घर न जा सका, रह-रहकर अपना कान पृथ्वी पर लगाता और आवाज सुनने का प्रयत्न करता। ऐसा मालूम होता था कि अब भी उस गुफा के अंदर या पृथ्वी की अथाह गहराइयों में से एक वेदनायुक्त क्रंदन सुनाई दे रहा है। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि रात में आकाश पर केवल वही एक आवाज छाई हुई है और संसार के सब व्यक्ति उस आवाज से जागकर बिस्तरों में बैठे, उसे सुनने का प्रयत्न कर रहे हैं...!

पागल वृद्ध आवेश में आकर और अधिक मिट्टी डालने लगता था। वह चाहता था कि उस आवाज को दबा दे, किंतु इस पर भी रह-रहकर वह आवाज उसके कानों में आ रही थी—'बाबाजी! हाय बाबाजी!'

उसने पूरी शक्ति से धरती पर पांव मारकर चिल्लाते हुए कहा—"चुप रहो, लोग तुम्हारी आवाज सुन लेंगे।"

फिर भी उसे मालूम हुआ कि 'हाय बाबाजी! हाय बापू! की आवाजें रह-रहकर सुनाई दे रही हैं।

इतने में सूर्य उदय हुआ और जगन्नाथ कुण्डू मंदिर को छोड़कर खेतों की ओर आ गया।

वहां भी किसी ने उसके पीछे से आवाज दी—"बापू!" घबराहट की दशा में जगन्नाथ ने पीछे पलटकर देखा तो उसका पुत्र वृन्दावन था।

"मुझे पता चला है कि मेरा बेटा आपके घर में छिपा हुआ है, उसे मुझे दे दो।" वृन्दावन कहने लगा।

यह सुनकर वृद्ध के नेत्र विस्तृत हो गए, मुंह चौड़ा हो गया और उसने मुड़कर पूछा—"क्या कहा? तुम्हारा बेटा?"

वृन्दावन ने कहा—"हां, मेरा बेटा गोकुल। अब उसका नाम नितईपाल है और मैंने अपना नाम दामोदर पाल प्रसिद्ध कर रखा है। तुम्हारी मनहूसी और कंजूसी की बात चारों ओर इतनी अधिक फैल चुकी थी कि विवश होकर मुझे अपना वास्तविक नाम बदलना पड़ा। वरना सम्भव था कि लोग हमारा नाम लेने से भी सकुचाते।"

वृद्ध ने धीरे से अपने दोनों हाथ सिर के ऊपर उठाए। उसकी उंगलियां इस प्रकार कांपने लगीं, मानो वह वायु में किसी अदृश्य वस्तु को पकड़ने का प्रयत्न कर रही हों। फिर वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। जब उसे होश आया तो वह अपने बेटे की बांह पकड़कर उसे घसीटता हुआ पुराने मंदिर के समीप ले गया और पूछने लगा—"तुम्हें इसके अंदर से किसी के रोने की आवाज सुनाई देती है?"

"नहीं।" वृन्दावन ने उत्तर दिया।

"ध्यान से सुनो। कोई आवाज अंदर से 'बाबाजी! बाबाजी!' कहती सुनाई नहीं देती?" वृद्ध ने कहा।

"नहीं।" वृन्दावन ने फिर कान लगाकर उत्तर दिया।

इससे वृद्ध जगन्नाथ की चिंता किसी सीमा तक दूर हो गई, साथ ही उसके मस्तिष्क ने भी उसे जवाब दे दिया।

उस दिन के पश्चात उसकी दशा यह थी कि गांव में आवारा फिरता और लोगों से पूछा करता—"तुम्हें किसी के रोने की आवाज तो नहीं सुनाई देती?"

लोग उसके पागलपन पर ठहाका लगाते।

इसके लगभग चार वर्ष पश्चात जगन्नाथ मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। संसार का प्रकाश धीरे-धीरे उसके नेत्रों के सामने से दूर होता जा रहा था और सांस अधिक कष्ट से आने लगी थी। सहसा वह विक्षिप्त अवस्था में उठकर बैठ गया। उसने अपने दोनों हाथ ऊपर की ओर उठा लिए और वायु में इस प्रकार चलाने लगा, जैसे किसी वस्तु को टटोल रहा हो और कहने लगा—"मेरी सीढ़ी किसने उठा ली?"

उस भयानक बंदी-गृह में से, जहां न देखने को प्रकाश और न सांस लेने के लिए वायु थी, बाहर निकलने के लिए सीढ़ी न पाकर वह फिर अपनी मृत्यु-शय्या पर गिर पड़ा और जहां संसार की स्थायी आंख-मिचौली के खेल में कोई छिपने वाला नहीं पाया गया, उस श्रेणी में लुप्त हो गया।

# अनमोल भेंट

रायचरण बारह वर्ष की आयु से अपने मालिक का बच्चा खिलाने के लिए नौकर हुआ था। उसके पश्चात काफी समय बीत गया। नन्हा बच्चा रायचरण की गोद से निकलकर स्कूल में प्रविष्ट हुआ। स्कूल से कॉलेज में पहुंचा, फिर एक सरकारी स्थान पर लग गया, किंतु रायचरण अब भी बच्चा खिलाता था। यह बच्चा उसकी गोद के पले हुए अनुकूल बाबू का पुत्र था।

बच्चा घुटनों के बल चलकर बाहर निकल जाता। जब रायचरण दौड़कर उसको पकड़ता तो वह रोता और अपने नन्हें-नन्हें हाथों से रायचरण को मारता।

रायचरण हंसकर कहता—"हमारा भैया भी बड़ा होकर जज साहब बनेगा।"

जब वह रायचरण को चन्ना कहकर पुकारता तो उसका हृदय बहुत हर्षित होता। वह दोनों हाथ पृथ्वी पर टेककर घोड़ा बनता और बच्चा उसकी पीठ पर सवार हो जाता।

इन्हीं दिनों अनुकूल बाबू की बदली पद्मा नदी के किनारे एक जिले में हो गई। नए स्थान की ओर जाते हुए कोलकाता से उन्होंने अपने बच्चे के लिए मूल्यवान आभूषण और कपड़ों के अतिरिक्त एक छोटी-सी सुंदर गाड़ी भी खरीदी।

वर्षा ऋतु थी। कई दिनों से मूसलाधार वर्षा हो रही थी। ईश्वर-ईश्वर करते हुए बादल फटे। संध्या का समय था। बच्चे ने बाहर जाने के लिए आग्रह किया। रायचरण उसे गाड़ी में बिठाकर बाहर ले गया।

खेतों में पानी खूब भरा हुआ था। बच्चे ने फूलों का गुच्छा देखकर जिद की, रायचरण बच्चे का मन रखने के लिए घुटनों-घुटनों पानी में फूल तोड़ने लगा। कई स्थानों पर उसके पांव कीचड़ में बुरी तरह धंस गए। बच्चा कुछ देर मौन गाड़ी में बैठा रहा, फिर उसका ध्यान लहराती हुई नदी की ओर गया। वह चुपके-से गाड़ी से उतरा। पास ही एक लकड़ी पड़ी थी, जो उसने उठा ली और भयानक नदी के तट पर पहुंचकर उसकी लहरों से खेलने लगा। नदी के शोर में ऐसा मालूम होता था कि नदी की चंचल और मुंहजोर जल-परियां सुंदर बच्चे को अपने साथ खेलने के लिए बुला रही हैं।

रायचरण फूल लेकर वापस आया तो देखा कि गाड़ी खाली है। उसने इधर-उधर देखा, पैरों के नीचे से जमीन निकल गई। पागलों की तरह चारों ओर

देखने लगा। वह बार-बार बच्चे का नाम लेकर पुकारता था, लेकिन उत्तर में 'चन्ना' की मधुर ध्वनि न आती थी।

चारों ओर अंधेरा छा गया। बच्चे की माता को चिंता होने लगी। उसने चारों ओर आदमी दौड़ाए। कुछ व्यक्ति लालटेन लिए हुए नदी के किनारे खोज करने पहुंचे। रायचरण उन्हें देखकर उनके चरणों में गिर पड़ा। उन्होंने उससे प्रश्न करने आरम्भ कर दिए, लेकिन वह प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में यही कहता—"मुझे कुछ मालूम नहीं।"

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की यही सम्मति थी कि छोटे बच्चे को पद्मा नदी ने अपने आंचल में छिपा लिया है, लेकिन फिर भी हृदय में विभिन्न प्रकार की शंकाएं उत्पन्न हो रही थीं। एक यह कि उसी संध्या को निर्वासितों का एक समूह नगर से गया था और मां को संदेह था कि रायचरण ने कहीं बच्चे को निर्वासितों के हाथ बेच न दिया हो। वह रायचरण को अलग ले गई और उससे विनती करते हुए कहने लगी—"रायचरण! तुम मुझसे जितना रुपया चाहो ले लो, लेकिन परमात्मा के लिए मेरी दशा पर तरस खाकर मेरा बच्चा मुझे वापस कर दो।"

परंतु रायचरण कुछ उत्तर न दे सका, केवल माथे पर हाथ मारकर मौन हो गया।

स्वामिनी ने क्रोध और आवेश की दशा में उसको घर से बाहर निकाल दिया। अनुकूल बाबू ने पत्नी को बहुत समझाया, लेकिन माता के हृदय से शंकाएं दूर न हुईं। वह बराबर यही कहती रही—"मेरा बच्चा सोने के आभूषण पहने हुए था, अवश्य इसने...।"

रायचरण अपने गांव वापस चला आया। उसके कोई संतान न थी और न ही संतान होने की कोई संभावना थी, किंतु साल की समाप्ति पर उसके घर पुत्र ने जन्म लिया, परंतु पत्नी सूतिका-गृह में ही मर गई। घर में एक विधवा बहन थी। उसने बच्चे के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया।

जब बच्चा घुटनों के बल चलने लगा तो वह घर वालों की नजर बचाकर बाहर निकल जाता। रायचरण जब उसे दौड़कर पकड़ता तो वह चंचलता से उसको मारता। उस समय रायचरण के नेत्रों के सामने अपने उस नन्हें मालिक की सूरत फिर जाती, जो पद्मा नदी की लहरों में लुप्त हो गया था।

बच्चे की जुबान खुली तो वह बाप को 'बाबा' और बुआ को 'मामा' इस ढंग से कहता था, जिस ढंग से रायचरण का नन्हा मालिक बोलता था। रायचरण उसकी आवाज से चौंक उठता। उसे पूर्ण विश्वास था कि उसके मालिक ने उसके घर में जन्म लिया है।

इस विचार को निर्धारित करने के लिए उसके पास तीन प्रमाण थे। एक तो यह कि वह नन्हें मालिक की मृत्यु के थोड़े ही समय पश्चात उत्पन्न हुआ। दूसरे यह कि उसकी पत्नी वृद्ध हो गई थी और संतान-उत्पत्ति की कोई आशा न थी। तीसरे यह कि बच्चे के बोलने का ढंग और उसकी सम्पूर्ण भाव-भंगिमाएं नन्हें मालिक से मिलती-जुलती थीं।

वह हर समय बच्चे की देख-भाल में संलग्न रहता। उसे भय था कि उसका नन्हा मालिक फिर कहीं गायब न हो जाए। उसने बच्चे के लिए आभूषण बनवा दिए। वह उसे गाड़ी में बिठाकर प्रतिदिन वायु-सेवन के लिए बाहर ले जाता था।

धीरे-धीरे दिन बीतते गए और बच्चा सयाना हो गया, परंतु इस लाड़-प्यार में वह बहुत बिगड़ गया था। किसी से सीधे मुंह बात न करता। गांव के लड़के उसे लाट साहब कहकर छेड़ते।

जब लड़का शिक्षा-योग्य हुआ तो रायचरण अपनी छोटी-सी ज़मीन बेचकर कोलकाता आ गया। उसने दौड़-धूप करके नौकरी खोजी और फलन को स्कूल में दाखिल करवा दिया। उसको पूर्ण विश्वास था कि बड़ा होकर फलन अवश्य जज बनेगा।

होते-होते अब फलन की आयु बारह वर्ष की हो गई। अब वह खूब लिख-पढ़ सकता था। उसका स्वास्थ्य अच्छा और सूरत-शक्ल भी अच्छी थी। उसको बनाव-शृंगार की भी बड़ी चिंता रहती थी। जब देखो दर्पण हाथ में लिए बाल बना रहा है।

वह अपव्ययी भी बहुत था। पिता की सारी आय व्यर्थ की विलास-सामग्रियों में व्यय कर डालता। रायचरण उससे प्रेम तो पिता की भांति करता था, किंतु प्रायः उसका बर्ताव उस लड़के से ऐसा था, जैसे मालिक के साथ नौकर का होता है। उसका फलन भी उसे पिता नहीं समझता था। दूसरी बात यह थी कि रायचरण स्वयं को फलन का पिता प्रकट भी नहीं करता था।

छात्रावास के विद्यार्थी, रायचरण के गंवारपन का उपहास करते और फलन भी उन्हीं के साथ मिल जाता।

रायचरण ने जमीन बेचकर जो कुछ रुपया प्राप्त किया था, वह अब लगभग सारा समाप्त हो चुका था। उसका साधारण वेतन फलन के खर्चों के लिए कम था। वह प्रायः अपने पिता से जेब-खर्च और विलास की सामग्री तथा अच्छे-अच्छे वस्त्रों के लिए झगड़ता रहता था।

आखिर एक युक्ति रायचरण के मस्तिष्क में आई। उसने नौकरी छोड़ दी और उसके पास जो कुछ शेष रुपया था, फलन को सौंपकर बोला—"फलन!

मैं एक आवश्यक कार्य से गांव जा रहा हूं, बहुत जल्द वापस आ जाऊंगा। तुम किसी बात से घबराना नहीं।"

रायचरण सीधा उस स्थान पर पहुंचा, जहां अनुकूल बाबू जज के ओहदे पर लगे हुए थे। उनके और कोई दूसरी संतान न थी, इस कारण उनकी पत्नी हर समय चिंतित रहती थी।

अनुकूल बाबू कचहरी से वापस आकर कुर्सी पर बैठे हुए थे और उनकी पत्नी संतानोत्पत्ति के लिए बाजारू दवा बेचने वाले से जड़ी-बूटियां खरीद रही थी।

काफी दिनों के पश्चात वह अपने वृद्ध नौकर रायचरण को देखकर आश्चर्यचकित हुई। पुरानी सेवाओं का विचार करके उसको रायचरण पर तरस आ गया और उससे पूछा—"क्या तुम फिर से नौकरी करना चाहते हो?"

"मैं अपनी मालकिन के चरण छूना चाहता हूं।" रायचरण ने मुस्कराकर उत्तर दिया।

अनुकूल बाबू, रायचरण की आवाज सुनकर कमरे से निकल आए। रायचरण की शक्ल देखकर उनके कलेजे का जख्म ताजा हो गया और उन्होंने मुंह फेर लिया।

रायचरण ने अनुकूल बाबू को संबोधित करके कहा—"सरकार! आपके बच्चे को पद्मा नदी ने नहीं, बल्कि मैंने चुराया था।"

"तुम यह क्या कह रहे हो? क्या मेरा बच्चा वास्तव में जिंदा है?" अनुकूल बाबू ने आश्चर्य से कहा।

"भगवान के लिए बताओ मेरा बच्चा कहां है?" उसकी पत्नी ने उछलकर कहा।

"आप संतोष रखें, आपका बच्चा इस समय भी मेरे पास है।" रायचरण ने कहा।

अनुकूल बाबू की पत्नी ने रायचरण से अत्यधिक विनती करते हुए कहा—"मुझे बताओ?"

"मैं उसे परसों ले आऊंगा।" रायचरण ने कहा।

रविवार का दिन था। जज साहब अपने मकान में बेचैनी से रायचरण की प्रतीक्षा कर रहे थे। कभी वह कमरे में इधर-उधर टहलने लगते और कभी थोड़े समय के लिए आराम-कुर्सी पर बैठ जाते। आखिर दस बजे के लगभग रायचरण ने फलन का हाथ पकड़े हुए कमरे में प्रवेश किया।

अनुकूल बाबू की पत्नी, फलन को देखते ही दीवानों की भांति उसकी ओर

लपकी और उसे बड़े जोर से गले लगा लिया। उसके नेत्रों से अश्रुओं का बांध-सा टूट पड़ा। कभी वह उसको प्यार करती, कभी आश्चर्य से उसकी सूरत ताकने लग जाती। फलन सुंदर था और उसके कपड़े भी अच्छे थे। अनुकूल बाबू के हृदय में भी पुत्र-प्रेम का आवेश उत्पन्न हुआ, किंतु जरा-सी देर के बाद उनके पितृ-प्रेम का स्थान कानून भावना ने ले लिया और उन्होंने रायचरण से पूछा—"भला इसका क्या प्रमाण है कि यह बच्चा मेरा है?"

रायचरण ने उत्तर दिया—"इसका उत्तर मैं क्या दूं सरकार! इस बात का ज्ञान तो परमात्मा के सिवाय और किसी को नहीं हो सकता कि मैंने ही आपका बच्चा चुराया था।"

जब अनुकूल बाबू ने देखा कि उनकी पत्नी, फलन को कलेजे से लगाए हुए है तो प्रमाण मांगना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उन्हें ध्यान आया कि इस गंवार को ऐसा सुंदर बच्चा कहां से मिल सकता था और झूठ बोलने से क्या लाभ हो सकता है।

अचानक उन्हें अपने वृद्ध नौकर की बेध्यानी याद आ गई और कानूनी मुद्रा में बोले—"रायचरण! अब तुम यहां नहीं रह सकते।"

रायचरण ने ठंडी उसांस भरकर कहा—"सरकार! अब मैं कहां जाऊं? बूढ़ा हो गया हूं, अब मुझे कोई नौकरी पर भी नहीं रखेगा। भगवान के लिए अपने द्वार पर पड़ा रहने दीजिए।"

"रहने दो, हमारा क्या नुकसान है? हमारा बच्चा भी इसे देखकर प्रसन्न रहेगा।" अनुकूल बाबू की पत्नी बोली।

लेकिन अनुकूल बाबू की कानूनी नस भड़की हुई थी। उन्होंने तुरंत उत्तर दिया—"नहीं, इसका अपराध बिल्कुल क्षमा नहीं किया जा सकता।"

"सरकार! मुझे न निकालिए, मैंने आपका बच्चा नहीं चुराया था, बल्कि परमात्मा ने चुराया था।" रायचरण ने अनुकूल बाबू के पांव पकड़ते हुए कहा।

अनुकूल बाबू को गंवार की इस बात पर और भी अधिक क्रोध आ गया। बोले—"नहीं, अब मैं तुम पर विश्वास नहीं कर सकता। तुमने मेरे साथ कृतघ्नता की है।"

"सरकार, मेरा कुछ अपराध नहीं।" रायचरण ने फिर कहा।

अनुकूल बाबू त्यौरियों पर बल डालकर कहने लगे—"तो फिर किसका अपराध है?"

रायचरण ने उत्तर दिया—"मेरे भाग्य का।"

परंतु शिक्षित व्यक्ति भाग्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता।

फलन को जब मालूम हुआ कि वास्तव में वह एक धनी व्यक्ति का पुत्र है तो उसे भी रायचरण की इस धृष्टता पर क्रोध आया कि उसने इतने दिनों तक क्यों उसे कष्ट में रखा। फिर रायचरण को देखकर उसे दया भी आ गई और उसने अनुकूल बाबू से कहा—"पिताजी! इसको क्षमा कर दीजिए। यदि आप इसको अपने साथ नहीं रखना चाहते तो इसकी थोड़ी पेंशन कर दें।"

इतना सुनने के बाद रायचरण अपने बेटे को अंतिम बार देखकर अनुकूल बाबू की कोठी से निकलकर चुपचाप कहीं चला गया।

महीना समाप्त होने पर अनुकूल बाबू ने रायचरण के गांव कुछ रुपया भेजा, किंतु मनीऑर्डर वापस आ गया, क्योंकि गांव में अब इस नाम का कोई व्यक्ति न था!

# सीमान्त

उस दिन सवेरे कुछ ठण्ड थी, परंतु दोपहर के समय हवा गर्मी पाकर दक्षिण दिशा की ओर से बहने लगी थी। यतीन जिस बरामदे में बैठा हुआ था, वहां से उद्यान के एक कोने में खड़े हुए एक ओर कटहल और दूसरी ओर के शिरीष वृक्ष के बीच से बाहर का मैदान दिखाई पड़ता है। वह सुनसान मैदान फाल्गुन की धूप में धूं-धूं करके जल रहा था। उसी से सटा हुआ एक कच्चा रास्ता निकला हुआ था। उसी पर एक खाली बैलगाड़ी धीमी चाल से गांव की ओर लौट रही थी और गाड़ीवान धूप से बचने के लिए सिर पर लाल रंग का गमछा लपेटे मस्ती में किसी गीत की कड़ियां दोहराता हुआ जा रहा था।

ठीक इसी समय पीछे से किसी नारी का मधुर और हास्य भरा स्वर सुनाई पड़ा—"क्यों यतीन! क्या बैठे-बैठे अपने पिछले जन्म की किसी बात को सोच रहे हो?"

यतीन ने सुना और पीछे की ओर देखकर कहा—"क्या मैं ऐसा ही हतभागा हूं पटल, जो सोचते समय पिछले जन्म के विचारे बिना काम ही नहीं चलेगा।"

अपने परिवार में 'पटल' नाम से पुकारी जाने वाली वह बाला बोल उठी—"झूठी शेखी मत बघारो यतीन! तुम्हारे इस जन्म की सारी बातें मुझे मालूम हैं। छिः! छिः! इतनी उम्र हो गई, फिर भी एक बहू घर में न ला सके। हमारा जो धनेसर माली है, उसकी भी एक घरवाली है। रात-दिन उसके साथ लड़-झगड़कर मोहल्ले-भर के लोगों को वह कम-से-कम इतना तो बता देती है कि उसका भी इस दुनिया में अस्तित्व है। तुम तो मैदान की तरफ मुंह करके ऐसे भाव दर्शा रहे हो, मानो किसी पूनम के चांद-से सलोने मुखड़े का ध्यान करने के लिए बैठे हो? तुम्हारी इन चालाकियों को मैं खूब समझती हूं। यह सब लोगों को दिखाने के लिए ढोंग रच रखा है। देखो यतीन, जाने-माने ब्राह्मण के लिए जनेऊ की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारा वह धनेसर माली तो कभी विरह का बहाना करके इस सुनसान मैदान की ओर दृष्टि गड़ाए बैठा नहीं रहता। जुदाई की लम्बी घड़ियों में भी उसे वृक्ष के नीचे हाथों में खुरपी थामे समय काटते देखा है, लेकिन उसकी आंखों में ऐसी खुमारी नहीं देखी। एक तुम हो, जिसने सात जन्म से कभी बहू का सलोना मुखड़ा नहीं निहारा। बस, अस्पताल में शव की

चीर-फाड़ करके और मोटे-मोटे पोथे रट-रटकर उम्र के सुहावने दिन काट दिए। अब आखिर, इस चिलचिलाती दोपहरी में तुम इस प्रकार ऊपर की ओर टकटकी बांधे क्या देखते रहते हो? कुछ तो कहो? नहीं, ये सब व्यर्थ की चालाकियां मुझे अच्छी नहीं लगतीं। देख-देखकर सारा बदन अंतर की ज्वाला से जलने लगता है।"

यतीन ने सुना और हाथ जोड़कर कहा—"चलो, रहने भी दो। मुझे व्यर्थ में वैसे ही लज्जित मत करो। तुम्हारा वह धनेसर माली ही सब प्रकार से धन्य रहे। उसी के आदर्शों पर मैं चलने का यत्न करूंगा। बस, अब देर नहीं, सवेरे उठते ही सामने लकड़ियां बीनने वाली जिस किसी बाला का मुंह देखूंगा, उसी के गले में स्नेह से गुंथी हुई फूलों की माला डाल दूंगा। तुम्हारे ये कटाक्ष भरे शब्द अब मुझसे सहन नहीं होते।"

"बात निश्चित रही न...!" पटल ने पूछा।

"हां।"

"तब चलो मेरे साथ।"

यतीन कुछ भी न समझ सका। उसने पूछा—"कहां?"

पटल ने उसे उठाते हुए कहा—"चलो तो सही।"

परंतु यतीन ने हाथ छुड़ाते हुए कहा—"नहीं-नहीं, अवश्य तुम्हें कोई नई शरारत सूझी है। मैं अभी तुम्हारे साथ नहीं जाऊंगा।"

"अच्छा! तो यहीं पड़े रहो।" पटल ने रोष भरे शब्दों में कहा और शीघ्रता के साथ अंदर चली गई।

यतीन और पटल की आयु में बहुत थोड़ा अंतर है और वह है सिर्फ एक दिन का। पटल यतीन से बड़ी थी, चाहे उसे यह बड़प्पन एक ही दिन का मिला हो, लेकिन इस एक दिन के लिए यतीन को उसके लिए लोकाचार हेतु सम्मान दिखाना होगा। यह यतीन को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं। दोनों का संबंध चचेरे भाई-बहन का है और बचपन एक साथ ही खेलकूद में बीता है। यतीन के मुख से 'दीदी' शब्द न सुनकर पटल ने अनेक बार पिता और चाचा से उसकी शिकायत की, परंतु किसी प्रकार से भी इसका खास फल निकला हो, ऐसा जान नहीं पड़ता। संसार में इस एक छोटे भाई के पास भी पटल का छोटा-सा मामूली नाम 'पटल' आज तक नहीं छिप सका।

पटल देखने में खासी मोटी-ताजी, गोल-मटोल लड़की है। उसके प्रसन्न मुख से किए जाने वाले आश्चर्यजनक हास-परिहासों को रोकने की ताकत समाज में भी नहीं थी। उसका चेहरा सास-मां के सामने भी गंभीरता का साम्राज्य स्थापित

नहीं कर सका। पहले-पहल वह इन बातों के कारण इस नए घर में चर्चा का केंद्र बनी रही। अंत में स्वयं पराजित होकर परिजनों को कहना पड़ा—"इस बहू के तो ढंग ही अनोखे हैं।"

कुछ दिनों के बाद तो इसकी ससुराल में यहां तक नौबत आ गई कि इसके हास्य के आघात से परिजनों का गाम्भीर्य भूमिसात हो गया, क्योंकि पटल के लिए किसी का भारी मन और मुंह लटकाना देखना असंभव है।

पटल के पति हरकुमार बाबू डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं। बिहार के एक इलाके से उनकी तरक्की करके उन्हें कोलकाता के आबकारी विभाग में उच्च पद पर ले लिया गया है। प्लेग के भय से कोलकाता के बाहर उपनगर में एक किराए के मकान में रहते हैं और वहीं से अपने काम पर कोलकाता आया-जाया करते हैं। मकान के चारों ओर बड़ी चारदीवारी है और उसी में एक छोटा-सा बगीचा है।

इस आबकारी के विभाग में हरकुमार बाबू को अक्सर दौरे के रूप में अनेक गांवों का चक्कर काटना पड़ता है। पटल इस मौके पर अकेली रह जाती है, जो उसे खलता है। वे इस बात को दूर करने के लिए किसी आत्मीयजन को घर से बुलाने की सोच रहे थे कि उसी समय हाल ही में डॉक्टरी की उपाधि से सुशोभित यतीन चचेरी बहन के निमंत्रण पर एक सप्ताह के लिए वहां आ पहुंचा।

कोलकाता की प्रसिद्ध अंधेरी गलियों में से होकर पहली बार पेड़-पत्तों के बीच आकर आज यतीन इस सूने बरामदे में फाल्गुन की दोपहरी से आत्मविभोर बैठा था कि पटल पीछे से आकर यह नई शरारत कर गई। पटल के चले जाने के बाद वह कुछ देर के लिए निश्चिंत होकर बैठ गया। लकड़ी बीनने वाली लड़कियों का जिक्र आ जाने के कारण यतीन का मन बचपन में सुनी परियों के देश की रोचक कथाओं के गली-कूचों में चक्कर काटने लगा।

अभी कुछ ही क्षण बीते होंगे कि पटल का हास्य से भरा हुआ चिर-परिचित स्वर यतीन के कानों में पड़ा। उसे सुनकर वह चौंक पड़ा। उसने मुड़कर देखा पटल किसी बालिका को खींचे ला रही थी? इतना देखकर यतीन ने मुंह फेर लिया, तभी पटल ने उस बालिका को यतीन के सामने करके पुकारा—"चुनिया!"

बालिका ने अपना नाम सुनकर कहा—"क्या है दीदी?"

पटल ने चुनिया का हाथ छोड़ते हुए कहा—"मेरा यह भाई कैसा है? देख तो भला।"

चुनिया जो अब तक गर्दन झुकाए हुए खड़ी थी, निःसंकोच यतीन के चेहरे की ओर निहारने लगी।

उसे ऐसा करते हुए देख, पटल से पूछा—"क्यों री, देखने में तो अच्छा लगता है न?"

चुनिया ने शांत स्वर से सिर हिलाते हुए कहा—"हां! अच्छा ही है।"

यतीन ने देखा और सुना, फिर लज्जावश कुर्सी से उठता हुआ बोला—"ओह पटल! यह क्या लड़कपन है?"

"मैं लड़कपन कर रही हूं या तुम व्यर्थ में ही बुढ़ापा दिखला रहे हो।" पटल ने यतीन के शब्दों को सुनकर निःसंकोच कहा।

"अब बचना मुश्किल है।" यतीन के होंठों से शब्द निकले और वह वहां से भाग गया।

पटल ने उसका पीछा किया और भागते हुए बोली—"अरे! सुनो तो, भय की कोई बात नहीं है, यकीन तनिक भी नहीं है। कौन तुम्हारे गले में अपनी माला डाल रहा है? फाल्गुन-चैत में तो इस बार कोई लगन ही नहीं पड़ती, अभी बहुत समय है।"

वे दोनों उस जगह से चले गए, परंतु चुनिया आश्चर्यचकित अवस्था में वहीं खड़ी रह गई। उसके इकहरे बदन ने जरा भी जुम्बिश न की। उसकी आयु लगभग सोलह वर्ष की होगी। उसके सलोने मुख का वर्णन पूर्णतया लेखनी से नहीं किया जा सकता, परंतु इतना अवश्य लिखा जा सकता है कि उसमें ऐसी आकर्षण शक्ति है, जो देखते ही वन की मृगी की याद दिला देती है। साहित्यिक भाषा में कहने की आवश्यकता पड़े तो उसे निर्बुद्धि भी कहा जा सकता है, किंतु मूर्ख के साथ उसकी उपमा नहीं दी जा सकती है। हां, अपने समाधान के लिए यह अवश्य सोचा जा सकता है कि बुद्धिवृत्तिपूर्ण विकसित नहीं हुई है, लेकिन इन सब बातों से चुनिया का सौंदर्य घटा नहीं, बल्कि उसमें एक विशेषता ही आ गई है।

संध्या को हरकुमार बाबू ने कोलकाता से लौटकर यतीन को देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उसी मुद्रा में बोले—"तुम आ पहुंचे, चलो बड़ा ही अच्छा हुआ।"

और फिर दफ्तर के कपड़े बदलकर जल्दी से उसके पास बैठकर कुछ व्यस्त भाव से बोले—"यतीन! तुम्हें जरा डॉक्टरी करनी होगी। अकाल के दिनों में जब हम पश्चिम की ओर जा रहे थे, तभी से एक लड़की को पाल रहे हैं। पटल उसे चुनिया कहकर पुकारती है। उसके मां-बाप और वह, सब बाहर मैदान के पास ही एक पेड़ के नीचे पड़े हुए थे। सूचना मिलते ही मैंने बाहर जाकर देखा तो बेचारे मां-बाप दुनिया के झंझटों से मुक्ति पा चुके थे, सिर्फ लड़की के प्राण अभी बाकी थे। मैंने उस लड़की को वहां से उठाकर पटल को सौंप दिया। पटल ने

अपना उत्तरदायित्व समझा और बड़ी सेवा-जतन के बाद उसे बचाने में सफल हुई।"

उसकी जाति के विषय में कोई कुछ नहीं जानता? यदि उस ओर से कोई ऐतराज भी करता तो पटल कहती है कि द्विज है। एक बार मरकर फिर से जो इस घर में जन्मी है, इसलिए इसकी मूल जाति तो कभी की मिट चुकी है।

पहले-पहल उसने पटल को मां कहकर पुकारना शुरू किया था, परंतु पटल को इसमें लज्जा का भास होता था, अतः पटल ने उसे धमकाते हुए कहा—'खबरदार! मुझे अब से मां मत कहना। दीदी कहकर भले ही पुकार सकती हो।'

पटल कहती है—'अरे, इतनी बड़ी लड़की यदि मुझे मां कहेगी तो मैं अपने आपको बुढ़िया समझने लगूंगी।'

हरकुमार बाबू ने लम्बी सांस खींचते हुए फिर कहा—"यतीन एक बात और भी है। शायद उन अकाल के दिनों में या फिर किसी अन्य कारणवश चुनिया को रह-रहकर एक शूल की तरह पीड़ा उठा करती है। असल बात क्या है, सो तुम्हीं को अच्छी तरह डॉक्टरी परीक्षा करके समझना होगा।"

हरकुमार बाबू ने किसी से कहा—"अरे, ओ तुलसी, चुनिया को तो बुला ला।"

हरकुमार बाबू के इस लम्बे व्याख्यान की समाप्ति पर यतीन खुलकर सांस भी न ले सका था कि चुनिया केश बांधते हुए, अपनी आधी बंधी वेणी को पीठ पर लटकाए कमरे में दाखिल हुई। अपनी बड़ी-बड़ी गोल आंखों को एक बार दोनों व्यक्तियों पर डालकर चुपचाप खड़ी हो गई।

हरकुमार बाबू सबकी चुप्पी को तोड़कर बोले—"तुम तो व्यर्थ में ही संकोच कर रहे हो यतीन! यह तो देखने-भर की बड़ी है। कच्चे नारियल की तरह इसके भीतर सिर्फ स्वच्छ तरल द्रव्य ही छलक रहा है, कठोर गिरी की रेखा मात्र भी अभी तक फूटी नहीं है। यह बेचारी कुछ भी समझती-बूझती नहीं है। इसे तुम नारी समझने की भूल मत कर बैठना। यह तो जंगल की भोली-भाली मृगीमात्र है।"

यतीन चुपचाप अपने डॉक्टरी फर्ज को पूरा करने में लग गया। चुनिया ने भी किसी प्रकार का संकोच नहीं किया और न आपत्ति ही उठाई? यतीन ने थोड़ी देर तक चुनिया के शरीर की जांच-पड़ताल करके कहा—"शरीर-यंत्र में कोई विकार पैदा हुआ हो? ऐसा तो दिखाई नहीं देता।"

पटल ने उसी क्षण आंधी के समान वहां पहुंचकर कहा—"हृदय-यंत्र में भी

कोई विकार पैदा नहीं हुआ। यतीन परीक्षा करना चाहते हो क्या....अच्छी बात है।"

और फिर वह चुनिया के पास जाकर उसकी ठोड़ी छूते हुए बोली—"चुनिया! मेरा यह भाई तुझे पसंद आया न?"

चुनिया ने सिर हिलाकर कहा—"हां।"

पटल ने फिर पूछा—"मेरे इस भाई से विवाह करेगी?"

चुनिया ने इस बार भी वैसे ही सिर हिलाकर कहा—"हां।"

पटल और हरकुमार बाबू दोनों ही हंस पड़े। चुनिया इस खेल के मर्म को समझकर भी इन्हीं का अनुकरण किए, हंसी से घिरा चेहरा लेकर एकटक ताकती रह गई। यतीन का चेहरा लज्जा से लाल हो उठा। वह कुछ परेशान-सा होकर बोला—"ओह, पटल! तुम बहुत ज्यादती कर रही हो। यह तो सरासर अन्याय है। हरकुमार बाबू भी तो तुम्हें बहुत बढ़ावा दे रहे हैं।"

पटल के कुछ कहने से पूर्व हरकुमार बाबू बोले—"यदि ऐसा न करूं तो मैं इससे प्रश्रय पाने की प्रत्याशा कैसे कर सकता हूं, तनिक बताओ तो सही? लेकिन यतीन, चुनिया को तुम नहीं जानते, इसी कारण तुम इतने हैरान हो रहे हो। दिखाई देता है, तुम स्वयं लजा-लजाकर चुनिया को भी लजाना सिखा दोगे। ज्ञान वृक्ष का फल दया कर मत खिलाओ। आज तक हम सबने सरल भाव से उसके साथ खेल किया है। अब तुम यदि बीच में आकर गम्भीरता दिखाने लगोगे तो उसके लिए बड़ा असंगत-सा मामला हो जाएगा...।"

तभी पटल बोल उठी—"इसी से तो यतीन के साथ मेरी कभी नहीं बनी। बचपन से लेकर आज तक सिर्फ झगड़ा ही हुआ है। यतीन आवश्यकता से अधिक गम्भीर है।"

हरकुमार बाबू किसी रहस्य के मर्म को समझते हुए बोले—"शायद इसी कारण से यह वाक्युद्ध करना तुम्हारी आदत बन गई है। जब भाई साहब नौ दो ग्यारह हुए तो फिर मुझ गरीब...।"

पटल ने तुनककर कहा—"फिर वही झूठ! भला आपसे झगड़ा करने में कौन-सा सुख पा जाती हूं, इसलिए मैं उसकी चेष्टा ही नहीं करती?"

"मैं शुरू से ही हार मान लेता हूं।" हरकुमार बाबू ने पटल को चिढ़ाने के अभिप्राय से उत्तर दिया।

"बड़ी बहादुरी दिखाते हो न शुरू में हारकर, यदि मेरी अंत में मान लेते तो कितनी खुशी होती मुझे। आपने कभी समझने का भी प्रयत्न किया है इसे।"

इतना कहकर पटल चुनिया को लेकर वहां से चली गई। उसके जाते ही कमरे

में नीरवता का आवरण छा गया। वे दोनों एक-दूसरे को देखते हुए शांत बैठे रहे। थोड़ी देर के बाद तुलसी ने भोजन की सूचना दी। हरकुमार बाबू, यतीन को लेकर तुलसी के पीछे रसोईघर में पहुंच गए। पटल वहां न थी। चुनिया ने ही खाना परोसने का काम किया। दोनों भोजन करने बैठ गए। खाते समय बातें करना सभ्यता के विरुद्ध समझकर हरकुमार बाबू ने बोलना उचित नहीं समझा। इस प्रकार वहां वातावरण शांत बना रहा।

यतीन सारी रात कमरे की खिड़कियां खोलकर जाने क्या-क्या सोचता रहा? जिस लड़की ने अपने मां-बाप को मरते देखा है। उसके जीवन पर कैसी भयंकर छाया आकर पड़ी होगी? ऐसी हृदय विदारक घटना के भीतर से आज वह इतनी बड़ी हुई है। उसे लेकर भला कहीं परिहास किया जा सकता है। यही अच्छा हुआ, जो विधाता ने कृपा करके उसकी विकसित बुद्धि पर एक आवरण डाल दिया। यदि किसी कारणवश वह आवरण कभी उठ जाए तो भाग्य की रुद्र लीला का कैसा भयंकर चिन्ह लक्षित हो उठेगा?

यतीन जब फाल्गुन की दोपहरी में वृक्षों के अंतराल से आकाश की ओर निहार रहा था और कटहल की कलियों की मादक सुगंध से मृदुतर होकर गंध-शक्ति को चारों ओर से घेर रखा था तो उस समय उसके मन ने सारी दुनिया को माधुर्य के कुहरे से ढके हुए देखा था, लेकिन अब इस बुद्धिहीन लड़की ने अपनी हिरनी जैसी आंखों द्वारा उस सुनहरे कुहरे को मानो काई की तह के समान हटा डाला है।

फाल्गुन के इस आवरण के पीछे जो विश्व भूख-प्यास से विकल, विषाद की भार-स्वरूप गठरी को देह पर लिए विराट प्रतिमा का रूप धरकर खड़ा है, आज वह उद्घाटित यवनिका के शिल्प-मधुरता के अंतराल से स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ है।

कब सवेरा हुआ और पूरा दिन बीतकर शाम होने को आई, यह यतीन को ठीक से याद नहीं रहा? वह तो पटल के बुलाने पर जब अंदर गया तो उसने देखा कि चुनिया को वही पीड़ा उठी हुई थी। उसके हाथ-पांव सुन्न हो गए थे और उसका कोमल शरीर अकड़ गया था। यतीन ने दवा लाने के लिए तुलसी को भेजकर बोतल में पानी मंगवाया, परंतु पटल झट से बोल उठी—"कैसे डॉक्टर बने हो जी? पांवों में तनिक गर्म-गर्म तेल की मालिश भी तो करनी होगी। देखते नहीं, इस बेचारी के तलवे कैसे बर्फ हो रहे हैं।"

यतीन ने विस्मित नेत्रों से पटल की ओर देखा और उसके हाथ में से गर्म तेल का बर्तन लेकर, रोगिणी के तलवों में पूरी शक्ति से उस तेल की मालिश शुरू कर दी। इलाज करते हुए रात भी बीतने को आई पर...हरकुमार बाबू

कोलकाता से लौटने पर बार-बार आकर चुनिया की अवस्था के विषय में पूछने लगे। यतीन समझ गया कि इस समय दफ्तर से लौटने पर पटल के बिना हरकुमार बाबू की अवस्था कुछ...इसीलिए बार-बार आकर चुनिया की अवस्था को पूछने का यही भेद है।

वह परिहास करता हुआ पटल से बोला—"हरकुमार बाबू छटपटा रहे हैं, तुम अब जाओ।"

उसी समय पटल ने मुंह बनाते हुए गम्भीर मुद्रा में कहा—"दूसरों की दुहाई तो दोगे ही। कौन छटपटा रहा है, सो मैं अच्छी तरह जानती हूं? मेरे चले जाने से ही अब तुम्हें रिहाई मिलेगी न? इधर बात-बात में चेहरे का रंग उषा की तरह लाल हो उठता है। तुम्हारे पेट में भी यह सब छिपा हुआ है। आज से पहले इसे कौन जान सका था? "

यतीन पटल के इस कटाक्ष से तिलमिला उठा। उसने हाथ जोड़ते हुए कहा—"अच्छा, दुहाई तुम्हारी, तुम यहीं रहो। मुझे क्षमा करो। तुम्हारे मुंह पर गाम्भीर्य रहने से ही मेरी जान बचेगी, मैंने समझने में भूल की थी। हरकुमार बाबू शायद इस समय सुख और शांति में हैं। ऐसा सुयोग उनके भाग्य में हमेशा नहीं बदा होता है।"

चुनिया ने तनिक आराम पाकर जब आंखें खोलीं तो पटल ने प्यार-भरे स्वर में कहा—"पगली! तेरी हिरनी जैसी आंखें खुलवाने के लिए तेरा वर बड़ी देर से तेरे तलवे सहलाकर तुझे मना रहा है, इसीलिए तूने देर की, अब समझी। छिः! छिः! उठ उसके पवित्र चरणों की धूलि ले।"

चुनिया ने मानो अज्ञात प्रेरणा से उसी क्षण उठकर छुपी हुई श्रद्धा के साथ यतीन के चरणों की धूलि माथे में लगा ली।

और दूसरे ही दिन से यतीन के साथ नए-नए उपद्रवों का श्री गणेश हो गया। यतीन जब भोजन के लिए बैठता तो चुनिया प्रसन्नचित्त पंखा डुलाकर मक्खियों को दूर करने में जुट जाती। यतीन व्यस्त भाव से कह उठता—"रहने दो, रहने दो, इसकी आवश्यकता नहीं है।"

चुनिया ऐसा सुनकर विस्मित नेत्रों से पार्श्व-कक्ष की ओर देखती और उसके बाद फिर से पंखा डुलाने लग जाती। यतीन जैसे खीज उठता और पटल को सुनाने के अभिप्रायः से कहता—"पटल! तुम यदि इसी प्रकार मुझे तंग करोगी तो मैं कदापि भोजन नहीं करूंगा। यह लो, मैं उठता हूं।"

लेकिन एक दिन यतीन के उठने का उपक्रम देखकर चुनिया ने पंखे को एक ओर फेंक दिया। यतीन को उसी क्षण उसके चेहरे पर विषाद की रेखाएं दृष्टिगोचर

हुई। खिन्नावस्था में उसी क्षण वह फिर बैठ गया। चुनिया कुछ भी नहीं समझती है, लजाना उसे आता नहीं है, विषाद का भार सम्भालने की उसमें क्षमता नहीं है। सबके समान इन बातों पर यतीन के हृदय ने भी विश्वास करना आरम्भ कर दिया था। किंतु आज मानो उसे सहसा दिखाई दिया कि सारे नियमों का व्यक्ति-क्रम करके अकस्मात कब क्या घटित हो जाता है, इसे पहले से कभी नहीं जाना जा सकता है? चुनिया ने फिर पंखा नहीं डुलाया। उसे वहीं फेंककर तत्काल ही दूसरे कमरे में चली गई।

यतीन बरामदे में बैठा था। आमों के पत्तों में छिपी हुई एक कोयल ने उच्च स्वर में अपना तराना छेड़ दिया था। आज मंजरियों की सुगंध से सवेरे ही हवा भारी हो गई थी। तभी उसने देखा, चुनिया चाय का प्याला हाथ में लिए, उसके समीप आने से मानो कुछ झिझक-सी रही है। उसकी भोली और कजरारी आंखों के छोरों में कहां का एक सकरुण भय छुपकर आ बैठा है। उसके चाय लेकर आने से यतीन रीझेगा या खीझेगा, इसे जैसे वह ठीक-ठीक समझ ही नहीं पा रही थी।

यतीन ने सुस्थिर चित्त से उठकर आगे बढ़ते हुए उसके हाथ से चाय का प्याला ले लिया। भला इस हिरनी जैसी आंखों वाली मानवी को किसी क्षुद्र कारणवश कहीं वेदना दी जा सकती है! किंतु उसने चाय का प्याला हाथ में पकड़ा ही था कि देखा बरामदे के दूसरे किनारे से सहसा प्रकट होकर पटल ने मौन हास्य द्वारा उंगली दिखाई। भाव बिल्कुल स्पष्ट थे, अब कैसे हारे तुम?

उसी संध्या को यतीन किसी पत्रिका के पृष्ठ पलट रहा था कि पुष्पों की सुगंध से चकित होकर उसने सिर उठाया। देखा मौलसिरी के पुष्पों का हार हाथ में लिए चुनिया धीरे-धीरे उसके कमरे में प्रविष्ट हो रही है।

यतीन ने मन-ही-मन में सोचा कि यह तो बहुत ज्यादती की जा रही है। पटल के इस निष्ठुर मनोरंजन को अब और अधिक बढ़ावा नहीं देना चाहिए, अतः उसने चुनिया से कहा—"छिः छिः! चुनी! तुम्हें बेवकूफ बनाकर दीदी अपना मनोरंजन किया करती है, सो क्या तुम इतना भी नहीं समझ पाती?"

बात समाप्त होने से पहले ही चुनिया ने त्रस्त मन और संकुचित भाव से अंदर की ओर लौट जाने का उपक्रम किया। यतीन ने तब शीघ्रता से उसे बुलाकर कहा—"देखूं तनिक! तुम्हारे इस हार को।"

हाथ आगे करके उसने हार ले लिया। चुनिया के मुख पर से विषाद के बादल छंट गए और आनंद की उज्ज्वल रेखा-सी फूट पड़ी। ठीक उसी समय दूसरे कमरे में से किसी के अट्टहास की तीव्र ध्वनि सुनाई दी।

दूसरे दिन सवेरे उपद्रव करने के अभिप्राय: से पटल ने यतीन के कमरे में जाकर देखा कि कमरा सूना पड़ा है। सिर्फ मेज पर पड़े कागज पर लिखा है—'भागा जा रहा हूं, यतीन!'

"अरी ओ चुनिया! तेरा वर तो भाग निकला। उसे तू रोक भी नहीं पाई।" बाहर जाकर पटल ने चुनिया की वेणी पकड़कर डुलाते हुए कहा और फिर घर के काम-धंधों में लग गई।

किंतु चुनिया को इस छोटी-सी बात समझने में कुछ समय लगा। वह पाषाण प्रतिमा के समान खड़ी स्थिर दृष्टि से सामने की ओर देखती रही। इसके उपरांत धीरे-धीरे यतीन के कमरे में जाकर उसने देखा। कमरा खाली पड़ा है और पिछली शाम को उसका दिया हुआ हार उसी तरह मेज पर रखा है।

उस दिन फाल्गुन मास का सवेरा स्निग्ध एवं सुंदर दिखाई पड़ रहा था। कंपित कृष्ण चूड़ा वृक्ष की शालाओं के भीतर से छनकर और छाया के साथ घुल-मिलकर सवेरे की धूप बरामदे में आ रही थी। गिलहरी अपनी मुलायम पूंछ को पीठ की ओर मोड़े हुए इधर-उधर कुछ पाने की आशा में दौड़ रही थीं। पक्षियों का समूह संगठित रूप में अपने मधुर रागों द्वारा भी अपने वक्तव्य को मानो किसी तरह सम्पूर्ण नहीं कर पा रहे थे, किंतु महान विश्व के इस छोटे से कोने में इस पल्लव समूह काया और धूप के द्वारा बने विश्व के तनिक खंड के भीतर प्राणों का आनंद पूर्ण रूप से खिल उठा था।

उसी एक कोने के बीच यह बुद्धिहीन लड़की अपने जीवन का अपने इर्द-गिर्द के सम्पूर्ण परिवेश का कोई समीचीन अर्थ नहीं खोज पा रही थी? उसके लिए सभी कुछ एक पहेली बन गया था। यह क्या हो गया...? और ऐसा हुआ क्यों? फिर उसके बाद यह सवेरा, यह घर, सब कुछ एक साथ ही भला इतने सूने क्यों हो गए? जिसके अंतर में समझने की शक्ति इतनी कम कर दी थी, उसी को अकस्मात एक दिन हृदय की अतुल वेदना के रहस्य-गर्भ के गाढ़े अंधकार में बिना ज्योति सहसा किसने उतार दिया? विश्व के इस सहज उच्छवसित जीवमय समाज में इन तरुपल्लवों, मृग-खगों के आत्म-विस्मृत कलरव के भीतर इस प्रगाढ़ अंधकार से उसे फिर कौन खींचकर बाहर लाएगा।

पटल ने एकाएक पहुंचकर विस्मित स्वर में कहा—"यह क्या हो रहा है, चुनिया?"

चुनिया ने सुना मात्र, लेकिन उठी नहीं, कुछ बोली भी नहीं, जैसी थी वैसी ही रही। पटल ने समीप पहुंचकर स्पर्श किया तो उच्छवसित हो वह फूट-फूटकर रोने लगी। आंसू आंखों के बांध को लांघकर अविरल गति से बहने लगे।

पटल ने आश्चर्यचकित-सी अवस्था में कहा—"अरी कलमुंही! तूने तो बिल्कुल ही सत्यानाश कर लिया। तू क्यों भला मरने गई थी?"

और फिर चुनिया की इस अवस्था से अवगत करने के अभिप्राय से पटल ने अपने पति के समीप जाकर कहा—"यह तो, अच्छी मुसीबत बैठे-बिठाए गले से बांध ली। आखिर! आपकी अक्ल पर भी क्या पत्थर पड़ गए थे, जो मुझे उस समय रोका नहीं।"

हरकुमार बाबू ने पटल की खीझपूर्ण बात को सुनकर कहा—"तुम्हें रोकने की मेरी कभी आदत ही नहीं रही, फिर रोकने से ही कौन-सा हल निकल आता?"

"आप कैसे हो जी?" पटल ने तुनककर कहा—"मैं यदि गलती करूं तो आप जबरदस्ती नहीं रोक सकते क्या?"

फिर वह उत्तर पाए बिना ही दौड़ते हुए आकर यतीन के कमरे में विरह-व्यथा से पीड़ित लड़की को आलिंगनबद्ध करते हुए बोली—"मेरी रानी बहन! तू क्या चाहती है? सो एक बार तो दिल खोलकर मुझसे कह?"

परंतु चुनिया के पास ऐसी कौन-सी भाषा है, जिससे वह अपने हृदय के व्याघात को वाणी के द्वारा सुना सके। वह हृदय की सारी वेदना लिए मानो किसी अनिर्वचनीय वेदना पर जा पड़ी है। यह कैसी वेदना है? विश्व में और भी किसी को क्या ऐसी ही अनुभूति होती है? संसार उसके विषय में क्या सोचता होगा?...किसी भी विषय में चुनिया कुछ भी तो नहीं जानती, वह तो केवल अपने इन आंसुओं के द्वारा ही कुछ कह सकती है। मन की पीड़ा को दर्शाने का और तो कोई उपाय उसका जाना हुआ नहीं है।

फिर पटल के ही होंठ हिले—"चुनिया तेरी दीदी बड़ी चंचल है, लेकिन स्वप्न में भी नहीं सोचा था। कोई भी कभी उसकी बात पर भरोसा नहीं करता, फिर तूने ही ऐसी भयंकर भूल क्यों की? चुनिया! एक बार, बस एक बार अपनी दीदी की ओर मुंह उठाकर तो देख, उसे क्षमा कर दे बहन!"

किंतु चुनिया का मन इस अचानक हुई घटना से बिल्कुल ही विमुख हो चुका था। इसलिए वह किसी भी तरह पटल के मुख की ओर न देख सकी। सारी बातें अच्छी प्रकार से नहीं समझने पर भी उसने एक प्रकार के गूढ़ भाव से पटल पर क्रोध प्रकट किया था। वह उसी अवस्था में अपने हाथों में जोरों से सिर गड़ाए रही।

पटल तब धीरे-धीरे अपनी लम्बी भुजाओं को हटाकर चुपचाप उठकर चली आई और पाषाण प्रतिमा की तरह खिड़की के किनारे स्तब्ध भाव से आकर खड़ी

हो गई। फाल्गुन की धूप से चिकनी चमकीली सुपारी वृक्ष की पल्लव श्रेणी को निहारते-निहारते उसके दोनों नेत्रों से आंसू बहने लगे।

और अगले दिन चुनिया उसे बिल्कुल दिखाई नहीं दी। पटल उसे बड़े प्यार से अच्छे-अच्छे आभूषणों और वस्त्रों से अलंकृत किया करती थी। वह स्वयं बड़ी बेतरतीबी से रहती। अपनी स्वयं की सजावट के विषय में कोई यत्न नहीं करती थी, लेकिन सजावट की अपनी आकांक्षा को वह चुनिया को सजाकर ही पूरा कर लेती थी। आज बहुत दिनों के संचित वह सारे आभूषण और वस्त्र चुनिया के कमरे में पड़े हुए थे। अपने हाथों के कंगन और चूड़ियां तथा नाक की लौंग तक वह उतारकर डाल गई थी। अपनी पटल दीदी के इतने दिनों के लाड़-प्यार को मानो उसने अपनी देह से बिल्कुल ही चिन्ह-रहित कर डालने का भरकस प्रयत्न किया है।

हरकुमार बाबू ने पता लगाने के लिए पुलिस में सूचना भेजी। उन दिनों प्लेग की महामारी से भयभीत होकर इतने आदमी इतनी विभिन्न दिशाओं में जीवन की साध लेकर भाग रहे थे। उन भगोड़ों के समूह में से किसी खास व्यक्ति को ढूंढ़ निकालना पुलिस के लिए कठिन कार्य बन गया था। दो-चार बार गलत व्यक्ति का पता पाने पर हरकुमार बाबू को काफी दुखी और लज्जित होना पड़ा।

अंत में उन्होंने चुनिया के मिलने की आशा को त्याग दिया। एक दिन जिसे अज्ञात की गोद में पड़ा पाया गया था, वही आज फिर किसी अज्ञात में ही अंतर्धान हो गई थी?

सरकारी प्लेग अस्पताल का डॉक्टर यतीन दोपहर का भोजन करके अस्पताल पहुंचा ही था कि सूचना मिली कि औरतों के वार्ड में कोई नई रोगिणी आई है। पुलिस उसे रास्ते से उठाकर लाई है।

यतीन देखने गया। लड़की के मुंह का अधिकांश भाग चादर से ढका हुआ था। यतीन ने हाथ उठाकर नाड़ी को टटोला। ज्वर अधिक नहीं था, लेकिन कमजोरी अधिक थी। विशेष परीक्षा के अभिप्राय से जब उसने मुख से चादर हटाकर देखा तो चकित रह गया, वह चुनिया थी।

यतीन अब तक पटल से चुनिया के विषय में सब कुछ जान चुका था। मरीजों की भीड़ से फुरसत पाते ही यतीन के मानस पटल पर, अव्यक्त हृदय तरंग के घूंघट से ढकी हुई चुनिया की मृगी जैसी दोनों सुंदर आंखें प्रायः सदा एक प्रकार की अश्रुहीन कातरता को बिखरा दिया करती थीं...।

आज रोगी के नेत्रों की बड़ी-बड़ी पलकों ने चुनिया के शीर्ण कपोलों पर गहरी

छाया रेखा खींच रखी है। देखते ही यतीन के वक्षस्थल के भीतर मानो किसी ने सहसा मेरु जैसा कोई बोझ दबाकर रख दिया है। इस एक लड़की को भगवान ने स्वयं ही फूल की तरह कोमल रूप में गढ़कर फिर दुनिया से खींचकर प्लेग जैसी महामारी के स्रोत में कैसे बहा दिया? आज उसके क्षीण-मृदु प्राण इस रोग से ग्रसित होकर बिस्तर पर पड़े हैं। उसकी इस छोटी-सी आय ने मुसीबतों के इतने बड़े आघात, वेदना का इतना भारी बोझ, आखिर कैसे सह लिया? यह सब समा कैसे गए? यतीन ही भला उसके जीवन में तीसरे संकट की तरह कहां से आकर लग गया था?

रुद्ध दीर्घ सांसें यतीन के रुद्ध द्वार पर निरंतर धक्के देने लगीं, लेकिन उस आघात की वेदना से उसके हृदय के तार में किसी अज्ञात सुख की होड़-सी लग गई? जो स्नेह विश्व में मिलना कठिन होता है, वही फाल्गुन की किसी दोपहर में पूर्ण विकसित वसंती मंजरी के समान अयाचित और अकस्मात् ही उसके चरणों के निकट खिसककर जा पड़ी है। जो निश्छल स्नेह इस प्रकार यम के द्वार तक आकर मूर्छित होकर गिर पड़ता है, ऐसे देवयोग नैवेद्य का सच्चा अधिकारी दुनिया में इस तरह अनायास ही भला और कौन हो सकता है?

यतीन चुनिया के पार्श्व में बैठकर उसे थोड़ा-थोड़ा गर्म दूध पिलाने लगा, पीते-पीते काफी देर के बाद चुनिया ने दीर्घ सांस लेकर नेत्र खोले। यतीन के चेहरे की ओर देखकर किसी सुंदर स्वप्न की तरह उसने उसे याद करने का प्रयत्न किया, किंतु यतीन ने जैसे ही उसके ललाट पर हाथ रखकर हिलाते हुए कहा—"चुनिया!"

वैसे ही उसकी बेहोशी की आखिरी खुमारी भी अकस्मात टूट गई। यतीन को उसने पहचान लिया और उसी के साथ उसकी दृष्टि पर किसी सुकुमार मोह का आवरण आ पड़ा। पहले कजरारे बादलों के समागम के साथ आषाढ़ के सुगम्भीर गगन में जैसी गहरी छाया अंकित हो जाती है, चुनिया की काली आंखों पर वैसी ही सुदूर व्यापी सजल स्निग्धता घनीभूत हो गई।

स्नेह और करुणा मिश्रित स्वर में यतीन ने कहा—"चुन्नी! यह थोड़ा-सा दूध और पी लो।"

उसी क्षण चुनिया उठकर बैठ गई। फिर प्याले पर से यतीन के मुख की ओर दृष्टि रखे हुए धीरे-धीरे दूध का शेष भाग भी खत्म कर दिया।

अस्पताल का विशेष डॉक्टर यदि एक ही रोगी के सिरहाने बराबर बैठा रहे तो काम भी नहीं चले और अच्छा भी प्रतीत नहीं होता, इसलिए दूसरी जगहों पर भी अपना फर्ज निभाने के लिए यतीन जब उठा तो भय और निराशा से

चुनिया की दोनों आंखें व्याकुल हो उठीं। यतीन ने उसका हाथ थामकर दिलासा देते हुए कहा—"मैं अभी वापस आता हूं चुन्नी! भय की कोई बात नहीं है?"

यतीन ने अस्पताल के अधिकारियों को सूचित किया कि इस नई रोगिणी को प्लेग नहीं है। वह केवल क्षुधा से पीड़ित होने के कारण ही इतनी क्षीण हो गई है। यहां प्लेग के अन्य रोगियों के साथ रखने से उस पर प्लेग के कीटाणु का आक्रमण हो सकता है। इस प्रकार समझा-बुझाकर उसे वहां से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए यतीन ने विशेष तौर से इजाजत ले ली और उसे अपने आवास-गृह में ले आया। फिर इस समाचार से सूचित करने के लिए उसने उसी दिन पटल के पास एक पत्र डाल दिया।

उस दिन संध्या को घर में रोगिणी और डॉक्टर के सिवाय कोई नहीं था। सिरहाने के पास रंगीन कागज के आवरण से घिरा हुआ मिट्टी के तेल का लैम्प धीमी रोशनी फैला रहा था। कॉर्नस पर रखा हुआ टाइमपीस निस्तब्ध कमरे में टिक्-टिक् शब्द का सुंदर राग अलाप रहा था।

यतीन ने चुनिया के ललाट पर हाथ फेरते हुए पूछा—"अब कैसा लगता है चुन्नी?"

चुनिया ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, परंतु यतीन का वह हाथ अपने क्षीण हाथों से ललाट पर ही दबा रखा।

यतीन ने पुनः पूछा—"अच्छा लगता है?"

चुनिया ने सुंदर आंखों पर पलकों के तनिक कपाट बंद करते हुए कहा—"हां।"

यतीन ने उंगली से संकेत करके पूछा—"चुन्नी! तुम्हारे गले में यह क्या है?"

चुनिया ने शीघ्रता के साथ साड़ी का पल्लू खींचकर उसे ढकने का यत्न किया। यतीन ने देखा, उसके गले में मौलसिरी के फूलों का सूखा हुआ हार पड़ा है। टाइमपीस के टिक्-टिक् शब्द के बीच यतीन चुपचाप बैठा सोचने लगा। अपनी हृदय की बात को छिपाने का यह प्रथम प्रयास है। चुनिया मानो पहले एक मृगछौना थी। मालूम नहीं किस घड़ी हृदय भार से आतुर हो यौवन की मादकता का रूप धारण कर बैठी? किस धूप के उजाले में उसकी ज्वाला की तीक्ष्ण लपटों से चुनिया की समझ पर आच्छादित कुहरा हट गया। उसकी लज्जा, शंका, वेदना, सभी एकदम प्रकाशित हो उठे।

और इन्हीं विचारों में खोए चौकी पर बैठे-ही-बैठे, न जाने कब यतीन की पलकें नींद के बोझ से दब गईं। वह रात्रि के अंतिम पहर में अचानक द्वार खुलने

की आवाज से चौंककर उठ गया। उसकी आंखों ने देखा पटल और हरकुमार बाबू बड़ा-सा बैग लिए कमरे में दाखिल हो रहे हैं।

हरकुमार बाबू ने बैग को कमरे में रखकर और यतीन के पास पहुंचकर कहा—"तुम्हारा पत्र पाकर सवेरे ही चल देने का मैंने विचार किया था, लेकिन जब रात को सो रहा था तो करीब ग्यारह-बारह बजे पटल ने जगाकर कहा—'अजी, सुनते हो। कल सवेरे जाने पर चुनिया को नहीं देख पाएंगे। हमें इसी समय पहुंचना होगा।'

मैं उसे किसी प्रकार भी समझा नहीं पाया। तब झटपट एक गाड़ी किराए पर लेकर हम लोग उसी क्षण घर से निकल पड़े।"

पटल ने तभी अपने पति से कहा—"चलो, यतीन के बिस्तर पर आप आराम करें।"

हरकुमार बाबू तनिक-सी आपत्ति का भान करते हुए यतीन के कमरे में जाकर लेट गए और फिर उन्हें पलक बंद करते हुए तनिक भी देर नहीं लगी।

रोगिणी के कमरे में वापस आने पर पटल ने यतीन को एक कोने में बुलाकर पूछा—"कुछ आशा है?"

यतीन ने चुनिया की नाड़ी को टटोलकर सिर हिलाते हुए जताया—"नहीं।"

पटल ने चुनिया के निकट अपने को प्रकट किए बिना ही यतीन को फिर ओट में करके पूछा—"यतीन! सच कहना तुम क्या चुनिया को नहीं चाहते?"

इस बार यतीन ने पटल के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। वह वहां से हटकर चुनिया के बिछौने के छोर पर बैठ गया। चुनिया का हाथ अपने हाथों में धीरे से दबाता हुआ बोला—"चुन्नी! चुन्नी! चुन्नी।"

चुनिया ने आंखों पर से पलकों का आवरण हटाकर चेहरे पर शांत मधुर हंसी का आभास लाते हुए कहा—"क्या है?"

यतीन आशातीत स्वर में बोला—"चुन्नी! अपना यह हार मेरे गले में पहना दो।"

वह निर्निमेष एवं विमूढ़ नेत्रों से केवल यतीन के चेहरे की ओर ताकती रह गई।

यतीन ने फिर कहा—"अपना यह हार क्या मुझे नहीं पहनाओगी चुन्नी?"

यतीन के निकट इस तनिक से दुलार का सहारा पाकर चुनिया के मन में पहले किए गए अनादर का थोड़ा-सा अभिमान जाग उठा। बोली—"इससे क्या होगा?"

यतीन ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेते हुए कहा—"मैं तुम्हें प्यार करता हूं चुन्नी!"

यतीन के इस वाक्य को सुनकर पल-भर के लिए चुनिया स्तब्ध रह गई। फिर उसके दोनों नेत्रों से अविरल आंसू की धारा बहने लगी। यतीन बिछौने से उतरकर भूमि पर घुटने टेककर बैठ गया और चुनिया के हाथों के पास उसने अपना सिर रख दिया। चुन्नी ने अपने गले का हार उतारकर यतीन के गले में डाल दिया।

तब पटल ने चुनिया के पास आकर पुकारा—"चुनिया!"

स्वर को पहचानते ही चुनिया का कांतिहीन मुख चमक उठा। बोली—"क्या है, दीदी?"

पटल उसके क्षीण हाथों को अपने हाथों में थामकर बोली—"अब तो तू मुझसे नाराज नहीं है बहन?"

चुनिया ने स्निग्ध कोमल दृष्टि पटल के चेहरे पर फेंकते हुए कहा—"मैं नाराज कहां थी दीदी?"

पटल की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। वह मुड़कर यतीन से बोली—"यतीन! तुम थोड़ी देर के लिए उधर वाले कमरे में जाकर बैठो।"

यतीन बिना किसी संकोच के चुपचाप चला गया। पटल ने उसके जाते ही बैग खोलकर उसमें से सारे आभूषण और वस्त्र निकाले। फिर रोगिणी को बिना हिलाए-डुलाए खूब सावधानी से उसके कमजोर हाथों में कुछ चूड़ियों को पिरोकर दो कंगन भी पहना दिए। इसके बाद आवाज दी—"यतीन!"

यतीन आ गया। तब उसे शय्या पर बिठाकर पटल ने उसके हाथों में चुनिया का एक सोने का हार थमा दिया। यतीन ने धीरे-धीरे चुनिया का सिर ऊंचा करके हार उसके गले में पहना दिया।

उषा की लाली में जब सूर्य की प्रथम किरण चुनिया के चेहरे पर पड़ी, तब उसे देखने के लिए वह वहां नहीं थी। उसके अम्माल मुख की कांति देखकर ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि वह मरी पड़ी है। यही जान पड़ता था, मानो किसी अतलस्पर्शी सुखद स्वप्न में वह पूर्ण रूप से लीन हो चुकी है?

जब उसके शव को लेकर चलने का समय आया, तब पटल चुनिया की छाती पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और क्रंदन स्वर में बोली—"बहन! तेरे भाग्य अच्छे थे, जीवन की अपेक्षा तेरा मरण ही अधिक सुखद हुआ।"

और चुनिया की शांत-स्निग्ध मृत्यु छवि की ओर निहारते हुए यतीन के अंतर में बारम्बार यही भाव उठने लगा—'जिसका वह धन था, उसी ने ही वापस ले लिया, लेकिन उसने मुझे भी उससे वंचित नहीं रखा।'

श्मशान घाट पर पहुंचकर शव जल उठा। शोकातुर अवस्था में यतीन ने अज्ञात प्रेम की सीमा का अंत कर दिया।

# पिंजर

जब मैं पढ़ाई की पुस्तकें समाप्त कर चुका तो मेरे पिता ने मुझे वैद्यक सिखानी चाही और इस काम के लिए एक अनुभवी गुरु को नियुक्त कर दिया। मेरा नवीन गुरु केवल देशी वैद्यक में ही चतुर न था, बल्कि डॉक्टरी भी जानता था। उसने मनुष्य के शरीर की बनावट समझाने के आशय से मेरे लिए एक मनुष्य का ढांचा अर्थात हड्डियों का पिंजर मंगवा दिया था, जो उस कमरे में रखा गया, जहां मैं पढ़ता था।

साधारण व्यक्ति जानते हैं कि मुर्दा विशेषतः हड्डियों के पिंजर से, कम आयु वाले बच्चों को, जब वे अकेले हों, कितना अधिक भय लगता है। स्वभावतः मुझको भी डर लगता था और आरम्भ में मैं कभी उस कमरे में अकेला नहीं जाता था। यदि कभी किसी आवश्यकतावश जाना भी पड़ता तो उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता था। एक और विद्यार्थी भी मेरा सहपाठी था, जो बहुत निर्भय था। वह कभी उस पिंजर से भयभीत नहीं होता था और कहा करता था कि इस पिंजर की सामर्थ्य ही क्या है? जिससे किसी जीवित व्यक्ति को हानि पहुंच सके। अभी हड्डियां हैं, कुछ दिन पश्चात मिट्टी हो जाएंगी, किंतु मैं इस विषय में उससे कभी सहमत नहीं हुआ और हमेशा यही कहता रहा कि यह मैंने माना कि आत्मा इन हड्डियों से विलग हो गई है, लेकिन तब भी जब तक यह विद्यमान है। वह समय-असमय पर आकर अपने पुराने मकान को देख जाया करती है। मेरा यह विचार प्रकट में अनोखा या असंभव प्रतीत होता था और कभी किसी ने यह नहीं देखा कि आत्मा फिर अपनी हड्डियों में वापस आई हो, किंतु यह एक अमर घटना है कि मेरा विचार सत्य था और सत्य निकला।

कुछ दिनों पहले की घटना है कि रात को गृहस्थी-संबंधी आवश्यकताओं के कारण मुझे उस कमरे में सोना पड़ा। मेरे लिए यह नई बात थी। अतः नींद न आई और मैं काफी समय तक करवटें बदलता रहा। यहां तक कि समीप के गिरजाघर ने बारह बजाए। जो लैम्प मेरे कमरे में प्रकाश दे रहा था, वह मद्धिम होकर धीरे-धीरे बुझ गया। उस समय मुझे उस प्रकाश के संबंध में विचार आया कि क्षण-भर पहले वह विद्यमान था, किंतु अब सर्वदा के लिए अंधेरे में परिवर्तित

हो गया। संसार में मनुष्य-जीवन की भी यही दशा है, जो कभी दिन और कभी रात के अनंत में जा मिलता है।

धीरे-धीरे मेरे विचार पिंजर की ओर परिवर्तित होने आरम्भ हुए। मैं हृदय में सोच रहा था कि भगवान जाने यह हड्डियां अपने जीवन में क्या कुछ न होंगी? सहसा मुझे ऐसा ज्ञात हुआ जैसे कोई अनोखी सांसों की ध्वनि, जैसे कोई दुखित व्यक्ति सांस लेता है, मेरे कानों में आई और पांवों की आहट भी सुनाई दी। मैंने सोचा यह मेरा भ्रम है और बुरे स्वप्नों के कारण काल्पनिक आवाजें आ रही हैं, किंतु पांवों की आहट फिर सुनाई दी। इस पर मैंने भ्रम-निवारण हेतु उच्च स्वर से पूछा—"कौन है?"

यह सुनकर वह अपरिचित शक्ल मेरे पास आई और बोली—"मैं हूं। मैं अपने पिंजर को देखने आई हूं।"

मैंने विचार किया मेरा कोई परिचित मुझसे हंसी कर रहा है। इसलिए मैंने कहा—"यह पिंजर देखने का कौन-सा समय है। वास्तव में तुम्हारा अभिप्राय क्या है?"

ध्वनि आई—"मुझे असमय से क्या अभिप्राय? मेरी वस्तु है, मैं जिस समय चाहूं इसे देख सकती हूं। आह! क्या तुम नहीं देखते वे मेरी पसलियां हैं, जिनमें वर्षों मेरा हृदय रहा है। मैं पूरे छब्बीस वर्ष इस घोंसले में बंद रही, जिसको अब तुम पिंजर कहते हो। यदि मैं अपने पुराने घर को देखने चली आई तो इसमें तुम्हें क्या बाधा हुई?"

मैं डर गया और आत्मा को टालने के लिए कहा—"अच्छा, तुम जाकर अपना पिंजर देख लो, मुझे नींद आती है। मैं सोता हूं।"

मैंने हृदय में निश्चय कर लिया कि जिस समय वह यहां से हटे, मैं तुरंत भागकर बाहर चला जाऊं, किंतु वह टलने वाली आसामी न थी, कहने लगी—"क्या तुम यहां अकेले सोते हो? अच्छा आओ कुछ बातें करें।"

उसका आग्रह मेरे लिए व्यर्थ की विपत्ति से कम न था। मृत्यु की रूप-रेखा मेरी आंखों के सामने फिरने लगी, किंतु विवशता से उत्तर दिया—"अच्छा तो बैठ जाओ और कोई मनोरंजक बात सुनाओ।"

आवाज आई—"लो सुनो। पच्चीस वर्ष पहले मैं भी तुम्हारी तरह मनुष्य थी और मनुष्यों में बैठकर बातचीत किया करती थी, किंतु अब श्मशान के शून्य स्थान में फिरती रहती हूं। आज मेरी इच्छा है कि मैं फिर एक लम्बे समय के पश्चात मनुष्यों से बातें करूं। मैं प्रसन्न हूं कि तुमने मेरी बातें सुनने पर सहमति प्रकट की है। क्यों? तुम बातें सुनना चाहते हो या नहीं?"

यह कहकर वह आगे की ओर आई और मुझे मालूम हुआ कि कोई व्यक्ति मेरे बिस्तर की पायंती पर बैठ गया है। फिर इससे पूर्व कि मैं कोई शब्द मुंह से निकालूं, उसने अपनी कथा सुनानी आंरभ कर दी।

वह बोली—"महाशय! जब मैं मनुष्य के रूप में थी तो केवल एक व्यक्ति से डरती थी और वह व्यक्ति मानो मेरे लिए देवता था। वह था मेरा पति। जिस प्रकार कोई व्यक्ति मछली को कांटा लगाकर पानी से बाहर ले आया हो। वह व्यक्ति मुझको मेरे माता-पिता के घर से बाहर ले आया था और मुझे वहां जाने नहीं देता था। अच्छा था उसका काम जल्दी ही समाप्त हो गया, अर्थात विवाह के दूसरे महीने ही वह संसार से चल बसा।

मैंने लोगों की देखा-देखी वैष्णव रीति से क्रियाकर्म किया, परंतु हृदय में बहुत प्रसन्न थी कि कांटा निकल गया। अब मुझको अपने माता-पिता से मिलने की आज्ञा मिल जाएगी और मैं अपनी पुरानी सहेलियों से, जिनके साथ खेला करती थी, मिलूंगी, लेकिन अभी मुझको मायके जाने की आज्ञा नहीं मिली थी कि मेरा ससुर घर आया और मेरा मुख ध्यान से देखकर अपने-आपसे कहने लगा—'मुझको इसके हाथ और पांव के चिन्ह देखने से मालूम होता है यह लड़की डायन है।'

अपने ससुर के वे शब्द मुझको अब तक याद हैं। वे मेरे कानों में गूंज रहे हैं। उसके कुछ दिनों पश्चात मुझे अपने पिता के यहां जाने की आज्ञा मिल गई। पिता के घर जाने पर मुझे जो खुशी हुई वह वर्णन नहीं की जा सकती। मैं वहां प्रसन्नता से अपने यौवन के दिन व्यतीत करने लगी। मैंने उन दिनों अनेक बार अपने विषय में कहते सुना कि मैं सुंदर युवती हूं, परंतु तुम कहो तुम्हारी क्या सम्मति है?"

मैंने उत्तर दिया—"मैंने तुम्हें जीवित देखा नहीं, मैं कैसे सम्मति दे सकता हूं, जो कुछ तुमने कहा ठीक होगा।"

वह बोली—"मैं कैसे विश्वास दिलाऊं कि इन दो गढ़ों में लज्जाशील दो नेत्र, देखने वालों पर बिजलियां गिराते थे। खेद है कि तुम मेरी वास्तविक मुस्कान का अनुमान इन हड्डियों के खुले मुखड़े से नहीं लगा सकते। इन हड्डियों के चारों ओर जो सौंदर्य था, अब उसका नाम तक बाकी नहीं है। मेरे जीवन के क्षणों में कोई योग्य-से-योग्य डॉक्टर भी कल्पना नहीं कर सकता था कि मेरी हड्डियां मानव-शरीर की रूप-रेखा के वर्णन के काम आएंगी। मुझे वह दिन याद है, जब मैं चला करती थी तो प्रकाश की किरणें मेरे एक-एक बाल से निकलकर प्रत्येक

दिशा को प्रकाशित करती थीं। मैं अपनी बांहों को घंटों देखा करती थी। आह! ये वे बांहें थीं, जिसको मैंने दिखाई अपनी ओर आसक्त कर लिया। संभवतः सुभद्रा को भी ऐसी बांहें नसीब न हुई होंगी। मेरी कोमल और पतली उंगलियां मृणाल को भी लजाती थीं। खेद है कि मेरे इस नग्न-ढांचे ने तुम्हें मेरे सौंदर्य के विषय में सर्वथा झूठी सम्मति निर्धारित करने का अवसर दिया। तुम मुझे यौवन के क्षणों में देखते तो आंखों से नींद उड़ जाती और वैद्यक ज्ञान का सौदा मस्तिष्क से अशुद्ध शब्द की भांति समाप्त हो जाता।"

उसने कहानी का तारतम्य प्रवाहित रखकर कहा—"मेरे भाई ने निश्चय कर लिया था कि वह विवाह नहीं करेगा और घर में मैं ही एक स्त्री थी। मैं संध्या-समय अपने उद्यान में छाया वाले वृक्षों के नीचे बैठती तो सितारे मुझे घूरा करते और शीतल वायु जब मेरे समीप से गुजरती तो मेरे साथ अठखेलियां करती थी। मैं अपने सौंदर्य पर घमण्ड करती और अनेक बार सोचा करती कि जिस धरती पर मेरा पांव पड़ता है, यदि उसमें अनुभव करने की शक्ति होती तो प्रसन्नता से फूली न समाती। कभी कहती संसार के सम्पूर्ण प्रेमी युवक घास के रूप में मेरे पैरों में पड़े हैं। अब ये सम्पूर्ण विचार मुझको अनेक बार विफल करते हैं कि आह! क्या था और क्या हो गया।"

मेरे भाई का एक मित्र सतीश कुमार था, जिसने मेडिकल कॉलेज में डॉक्टरी का प्रमाण-पत्र प्राप्त किया था। वह हमारा भी घरेलू डॉक्टर था। वैसे उसने मुझको नहीं देखा था, परंतु मैंने उसको एक दिन देख ही लिया और मुझे यह कहने में भी संकोच नहीं कि उसकी सुंदरता ने मुझ पर विशेष प्रभाव डाला। मेरा भाई अजीब ढंग का व्यक्ति था। संसार के शीत-ग्रीष्म से सर्वथा अपरिचित वह कभी गृहस्थ के कामों में हस्तक्षेप न करता। वह मौनप्रिय और एकांत में रहा करता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि संसार से अलग होकर एकांतप्रिय बन गया और साधु-महात्माओं का-सा जीवन बिताने लगा।

हां, तो वह नवयुवक सतीश कुमार हमारे यहां प्रायः आता और यही एक नवयुवक था, जिसको अपने घर के पुरुषों के अतिरिक्त मुझे देखने का संयोग प्राप्त हुआ था। जब मैं उद्यान में अकेली होती और पुष्पों से लदे हुए वृक्ष के नीचे महारानी की भांति बैठती तो सतीश कुमार का ध्यान और भी मेरे हृदय में चुटकियां लेता, परंतु तुम किस चिंता में हो। तुम्हारे हृदय पर क्या बीत रही है?

मैंने ठंडी सांस भरकर उत्तर दिया—"मैं यह विचार कर रहा हूं कि कितना अच्छा होता कि मैं सतीश कुमार होता।"

वह हंसकर बोली—"अच्छा, पहले मेरी कहानी सुन लो फिर प्रेमालाप कर

लेना। एक दिन वर्षा हो रही थी, मुझे कुछ बुखार था। उस समय डॉक्टर अर्थात मेरा प्रिय सतीश मुझे देखने के लिए आया। यह प्रथम अवसर था कि हम दोनों ने एक-दूसरे को आमने-सामने देखा और देखते ही डॉक्टर मूर्ति-समान स्थिर-सा हो गया और मेरे भाई की मौजूदगी ने होश संभालने के लिए बाध्य कर दिया। वह मेरी ओर संकेत करके बोला—'मैं इनकी नब्ज देखना चाहता हूं।'

मैंने धीरे से अपना हाथ दुशाले से निकाला। डॉक्टर ने मेरी नब्ज पर हाथ रखा। मैंने कभी नहीं देखा था कि किसी डॉक्टर ने साधारण ज्वर के निरीक्षण में इतना विचार किया हो। उसके हाथ की उंगलियां कांप रही थीं। कठिन परिश्रम के पश्चात उसने मेरे ज्वर को अनुभव किया, किंतु वह मेरा ज़्वर देखते-देखते स्वयं ही बीमार हो गए। क्यों तुम इस बात को मानते हो या नहीं?

मैंने डरते-डरते कहा—"हां, बिल्कुल मानता हूं। मनुष्य की अवस्था में परिवर्तन उत्पन्न होना कठिन नहीं है।"

वह बोली—"कुछ दिन परीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि मेरे हृदय में डॉक्टर के अतिरिक्त और किसी नवयुवक का विचार तक नहीं। मेरा कार्यक्रम था, संध्या-समय वसंती रंग की साड़ी पहनकर बालों में कंघी, फूलों का हार गले में डालकर, दर्पण हाथ में लिए बाग में चले जाना और घंटों देखा करना। क्यों, क्या दर्पण देखना बुरा है?"

मैंने घबराकर उत्तर दिया—"नहीं तो।"

उसने कहानी का सिलसिला शुरू रखते हुए कहा—"दर्पण देखकर मैं ऐसा अनुभव करती जैसे मेरे दो रूप हो गए हैं, अर्थात मैं स्वयं ही सतीश कुमार बन जाती और स्वयं ही अपने प्रतिबिम्ब को प्रेमिका समझकर उस पर तन-मन न्योछावर करती। यह मेरा बहुत प्रिय मनोरंजन था और मैं घंटों व्यतीत कर देती। अनेक बार ऐसा हुआ कि मध्याह्न को पलंग पर बिस्तर बिछाकर लेटी और एक हाथ को बिस्तर पर उपेक्षा से फेंक दिया। जरा आंख झपकी तो सपने में देखा कि सतीश कुंमार आया और मेरे हाथ को चूमकर चला गया...बस, अब मैं अपनी कहानी समाप्त करती हूं, तुम्हें तो नींद आ रही है।"

मेरी उत्सुक्ता बहुत बढ़ चुकी थी, अतः मैंने नम्रता भरे स्वर में कहा—"नहीं, तुम कहे जाओ, मेरी जिज्ञासा बढ़ती जा रही है।"

वह कहने लगी—"अच्छा सुनो। थोड़े दिनों में ही सतीश कुमार का कारोबार बहुत बढ़ गया और उसने हमारे मकान के नीचे के भाग में अपनी डिस्पेंसरी खोल ली। जब उसे रोगियों से अवकाश मिलता तो मैं उसके पास जा बैठती और

हंसी-ठट्ठों में विभिन्न दवाइयों के नाम पूछती रहती। इस प्रकार मुझे ऐसी दवाएं भी ज्ञात हो गईं, जो विषैली थीं। सतीश कुमार से जो कुछ मैं मालूम करती, वह बड़े प्रेम और नम्रता से बताया करता। इस प्रकार एक लम्बा समय बीत गया और मैंने अनुभव करना आरम्भ किया कि डॉक्टर होश-हवाश खोए-से रहता है। जब कभी मैं उसके सम्मुख जाती हूं तो उसके मुख पर मुर्दनी-सी छा जाती है, परंतु ऐसा क्यों होता है? इसका कोई कारण ज्ञात न हुआ। एक दिन डॉक्टर ने मेरे भाई से गाड़ी मांगी। मैं पास बैठी थी। मैंने भाई से पूछा—'डॉक्टर रात को इस समय कहां जाएगा?'

'तबाह होने को।' मेरे भाई ने उत्तर दिया।

मैंने अनुरोध किया कि मुझे अवश्य बताओ वह कहां जा रहा है?

'वह विवाह करने जा रहा है।' भाई ने कहा।

यह सुनकर मुझ पर मूर्छा-सी छा गई, किंतु मैंने अपने-आपको संभाला और भाई से फिर पूछा—'क्या वह सचमुच विवाह करने जा रहा है या मजाक करते हो?'

उसने उत्तर दिया—'सत्य ही आज डॉक्टर दुल्हन लाएगा।'

मैं वर्णन नहीं कर सकती कि यह बात मुझे कितनी कष्टप्रद अनुभव हुई। मैंने अपने हृदय से बार-बार पूछा कि डॉक्टर ने मुझसे यह बात क्यों छिपाकर रखी। क्या मैं उसको रोकती कि विवाह मत करो? इन पुरुषों की बात का कोई विश्वास नहीं।

दोपहर के समय डॉक्टर रोगियों को देखकर डिस्पेंसरी में आया और मैंने पूछा—'डॉक्टर साहब! क्या यह सत्य है कि आज आपका विवाह है।' यह कहकर मैं हंसी और डॉक्टर ये देखकर कि मैं इस बात को हंसी से उड़ा रही हूं, न केवल लज्जित हुआ, बल्कि कुछ चिंतित-सा हो गया। फिर मैंने सहसा पूछा—'डॉक्टर साहब! जब आपका विवाह हो जाएगा तो क्या आप फिर भी लोगों की नब्ज देखा करेंगे। आप तो डॉक्टर हैं और अन्य डॉक्टरों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध भी हैं, फिर आप डॉक्टर होकर किसी के हृदय का पता नहीं लगा सकते कि वह किस दशा में है। वस्तुतः हृदय भी शरीर का भाग है।'

मेरे शब्द डॉक्टर के हृदय में तीर की भांति लगे, परंतु वह मौन रहा।

लगन का मुहूर्त बहुत रात गए निश्चित हुआ था और बारात देर से जानी थी, अतः डॉक्टर और मेरा भाई प्रतिदिन की भांति शराब पीने बैठ गए। इस मनोविनोद में उनको बहुत देर हो गई।

ग्यारह बजने को थे कि मैं उनके पास गई और कहा—'डॉक्टर साहब! ग्यारह बजने वाले हैं, आपको विवाह के लिए तैयार होना चाहिए।'

वह किसी सीमा तक चेतन हो गया था। बोला—'अभी जाता हूं।'

उसके बाद वह मेरे भाई के साथ बातों में तल्लीन हो गया और मैंने अवसर पाकर विष की पुड़िया, जो मैंने दोपहर को डॉक्टर की अनुपस्थिति में उसकी अलमारी से निकाली थी, शराब के गिलास में, जो डॉक्टर के सामने रखा हुआ था, डाल दी। कुछ क्षणों के पश्चात डॉक्टर ने अपना गिलास खाली किया और दूल्हा बनने के लिए चल दिया। मेरा भाई भी उसके साथ चला गया।

मैं अपने दो मंजिले कमरे में गई और अपना नया बनारसी दुपट्टा ओढ़ा, मांग में सिंदूर भरकर पूरी सुहागन बनकर उद्यान में निकली, जहां प्रतिदिन संध्या-समय बैठा करती थी। उस समय चांदनी छिटकी हुई थी। वायु में कुछ ठंडक उत्पन्न हो गई थी और चमेली की सुगंध ने उद्यान को महका दिया था। मैंने पुड़िया की शेष दवा निकाली और मुंह में डालकर थोड़ा-सा पानी पी लिया। थोड़ी देर में मेरे सिर में चक्कर आने लगे, आंखों में धुंधलापन छा गया। चांद का प्रकाश मद्धिम होने लगा और पृथ्वी तथा आकाश, बेल-बूटे और मेरा घर जहां मैंने आयु बिताई थी, धीरे-धीरे लुप्त होते हुए ज्ञात हुए और मैं मीठी नींद सो गई।

डेढ़ साल के पश्चात सुख-स्वप्न से जागी तो मैंने क्या देखा कि तीन विद्यार्थी मेरी हड्डियों से डॉक्टरी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और एक अध्यापक मेरी छाती की ओर संकेत करके लड़कों को विभिन्न हड्डियों के नाम बता रहा है और कहता है—'यहां हृदय रहता है, जो विवाह और दुख के समय धड़का करता है और यह वह स्थान है जहां उठती जवानी के समय फूल निकलते हैं।'

अच्छा अब मेरी कहानी समाप्त होती है। मैं विदा लेती हूं, तुम सो जाओ।"

# विद्रोही

लोग कहते हैं, अंग्रेजी पढ़ना और भाड़ झोंकना बराबर है। अंग्रेजी पढ़ने वालों की मिट्टी खराब है। अच्छे-अच्छे एम.ए. और बी.ए. मारे-मारे फिरते हैं। कोई उन्हें पूछता तक नहीं। मैं इन बातों के विरुद्ध हूं। अंग्रेजी पढ़-लिखकर मैं डॉक्टर बना हूं। अंग्रेजी शिक्षा के विरोधी जरा आंख खोलकर मेरी दशा देखें।

सोमवार का दिन था। सवा नौ बजे मेरे मित्र बाबू संतोष कुमार बी.एस.सी. एक नवयुवक रोगी को साथ लिए मेरे दवाखाने में आए। उस रोगी की आयु अठारह-उन्नीस साल से अधिक न थी। गेहुंआ रंग, बड़ी-बड़ी आंखें, गठीला शरीर, कपड़े स्वदेशी, किंतु मैले थे। सिर के बाल लम्बे और रूखे थे। उस युवक को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।

संतोष कुमार ने युवक का परिचय कराते हुए कहा—"आप जिला नदिया के निवासी हैं, नाम ललित कृष्ण बोस है, किंतु ललित के नाम से प्रसिद्ध हैं। एम. ए. में पढ़ते थे, परंतु किसी कारणवश कॉलेज छोड़ दिया।"

मैंने मुस्कराते हुए पूछा—"आजकल आप क्या करते है?"

संतोष कुमार ने उत्तर दिया—"दो महीने पहले यह किरण प्रेस में प्रूफ रीडर का काम करते थे, परंतु इस काम में मन न लगने के कारण नौकरी छोड़ दी। परसों से ज्वर से पीड़ित हैं, कोई अच्छी-सी औषधि दीजिए।"

आज से पहले भी मैंने इस युवक को कहीं देखा है, लेकिन कहां देखा है और कब? यह याद नहीं। रोग की छान-बीन के पश्चात मैंने ललित से कहा—"मालूम होता है, आप आवश्यकता से अधिक परिश्रम करते हैं। खैर, कोई बात नहीं, दो दिन में आराम आ जाएगा।"

ललित बहुत मधुर-भाषी था। मैं उसकी बातों पर लट्टू हो गया। मैंने कहा—"हर तीन घण्टे के अंतर से दवा पीजिएगा। दूध और साबूदाने के सिवाय कोई और चीज खाने की आवश्यकता नहीं। कल फिर आने का कष्ट कीजिएगा।"

ललित हंसने लगा। जाते समय मैंने उससे कल अवश्य आने के लिए कहा, लेकिन ललित ने शाम को ही आने का वचन दिया।

ललित प्रतिदिन सुबह-शाम मेरे यहां आने लगा। मैं उसके व्यवहार से बहुत

प्रसन्न था। घंटों इधर-उधर की बातें होती थीं। ललित वास्तव में ललित था। वह मनुष्य नहीं देवता था।

ललित अब मेरे घर पर ही रहने लगा। मेरा लड़का उमाशंकर आठवीं कक्षा में पढ़ता था। ललित ने कहा—"मैं इसको बंगला सिखाऊंगा, बंगला बड़ी मधुर भाषा है।"

मैं स्वयं भी यही चाहता था। उमाशंकर ने बंगला पढ़ना शुरू कर दिया। ललित आज से उमाशंकर का अध्यापक हो गया।

कोलकाता जैसे बड़े नगर में यों तो प्रत्येक त्योहार पर बड़ी रौनक होती है, किंतु दुर्गा-पूजा के अवसर पर असाधारण धूमधाम और चहल-पहल दिखाई देती है। दशहरे के दिन प्रायः सारे रास्तों पर जन-समूह होता है। बड़े-बूढ़ों में भी उस दिन एक विशेष हर्ष की भावना होती है, किशोरों और युवकों की तो चर्चा ही व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी धुन में मस्त दिखाई देता है। जिस समय दुर्गा की सवारी सामने से आती है तो 'काली माई की जय' के ऊंचे जय घोष से आकाश गूंज उठता है। हृदय में एक अनुपम आवेश उत्पन्न होता है।

उस दिन दुर्गा-पूजा थी। हम सब व्यक्ति भी शोभा देखने गए थे, ललित भी साथ था। पहले की अपेक्षा ललित में आज अधिक प्रदर्शन था। प्रत्येक स्थान पर वह देवी की मूर्ति को नमन करता, कभी उसके नेत्र लाल हो जाते और कभी उनमें आंसू उमड़ आते। मैंने देखा, कभी वह हर्षातिरेक से नाचने-कूदने लगता और कभी बिल्कुल मौन हक्का-बक्का होकर इधर-उधर देखता। मैंने बहुत प्रयत्न किया, परंतु उसकी इन चेष्टाओं को न समझ सका। उससे मालूम करने का साहस न हुआ।

हमारे पीछे एक गरीब बुढ़िया एक आठ-नौ साल के बच्चे को साथ लिए खम्भे की आड़ में खड़ी थी। शायद अथाह जन-समूह के कारण उसको किसी ओर जाने का साहस नहीं होता था। वह भिखारिन थी। गरीबी के कारण पेट पीठ से लग गया था। उसने अपना दाहिना हाथ भीख के लिए फैला रखा था। बच्चा अनुनय-विनय करते हुए कह रहा था—"बाबा! भूखे की सुध लेना, परमेश्वर तुम्हारा भला करेगा।"

किंतु संसार में गरीबों की कौन सुनता है? गरीब बुढ़िया की ओर किसी ने आंख उठाकर भी न देखा। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रसन्नता में प्रसन्न था। बच्चे ने बुढ़िया से कहा—"घंटों बीत गए, परंतु अब तक दो पैसे मिले हैं। सोचता था आज दुर्गा-पूजा है और दिन की अपेक्षा कुछ अधिक ही मिल जाएगा, किंतु खेद

है कि चिल्लाते-चिल्लाते गला बैठ गया, कोई सुनता ही नहीं। जी में आता है, यहीं प्राण त्याग दूं।" यह कहकर बच्चा रोने लगा।

बुढ़िया की आंखों में आंसू छलकने लगे। उसने कहा—"बेटा! अपना भाग्य ही खोटा है। कल सत्तू खाने के लिए छः पैसे मिल गए थे, आज उसका भी सहारा दिखाई नहीं देता। आज भूखे पेट ही सोना होगा। हाय! यह हमारे पाप का फल है।"

बुढ़िया ने एक ठंडी उसांस ली और अपने फटे मैले आंचल से अपनी और बच्चे की आंखें पोंछीं। बच्चा फिर उसी विनती से कहने लगा—"बाबा! भूखे की सुध लेना, परमेश्वर तुम्हारा भला करेगा।"

परंतु नक्कार-खाने में तूती की आवाज कौन सुनता? इतना अधिक जन-समूह था, किंतु इस विनती पर कोई कान देकर सुनने वाला न था।

ललित उस समय बुढ़िया की ओर देख रहा था। उसकी दुखित दशा देखकर उसका हृदय विकल हो गया। उसने अपनी जेब टटोली, उसमें फूटी कौड़ी भी न थी, वह बहुत व्याकुल हुआ। उसने अपनी दूसरी जेब में हाथ डाला, कुछ आवश्यक कागजों के बीच में एक अठन्नी निकल आई। ललित की निराशा, प्रसन्नता में परिवर्तित हो गई, मुखड़ा खिल गया। वह अठन्नी उसने बुढ़िया के फैले हुए हाथ पर रख दी।

जिस प्रकार दस-पांच रुपए लगाने वाले को लाटरी में दस-बीस हजार रुपए मिल जाने पर प्रसन्नता होती है, जिस प्रकार एक युवती नए आभूषण पहनकर प्रसन्न होती है, जिस प्रकार एक सूखे हुए खेत में वर्षा हो जाने से किसान खुशी से फूला नहीं समाता, जिस प्रकार कोई नया कवि अपनी कविता को किसी पत्रिका में छपा हुआ देखकर प्रसन्न होता है। उससे कहीं अधिक उस गरीब बुढ़िया को अठन्नी पाकर प्रसन्नता हुई। प्रसन्नता के मारे उसकी आंखों में आंसू भर आए, वह निर्निमेष ललित की ओर देखने लगी। उसका मग्न हृदय ललित को सहस्र आशीष दे रहा था।

यह दशा देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। मैंने अनेक बार उस बुढ़िया को देखा था, उससे मुझे सहानुभूति भी थी, किंतु कभी यह साहस नहीं हुआ कि उसकी सहायता करूं। कभी हृदय में आता कि उसको कुछ देना चाहिए, कभी यह कहता कि इसमें क्या रखा है। संसार में लाखों गरीब हैं, किस-किसकी सहायता करूंगा? ललित, जिसे कभी-कभी भूखा तक रहना पड़ता था, जिसको मैंने कभी एक पैसे का पान तक चबाते न देखा था और जो मेरी दृष्टि में बहुत कंजूस था, उसका यह दान देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

स्वप्न में उस दिन मुझे ललित की बहुत-सी विशेषताएं दिखाई दीं। मालूम नहीं वे सत्य थीं या असत्य, लेकिन ज्योतिषी के हिसाब से उनको सत्य ही समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि रात मुझे ढाई बजे नींद आई और वह स्वप्न मैंने रात के अंतिम पहर में देखा था।

ललित के सहयोग से उमाशंकर में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गए। कहां तो वह बिना मोटर के घर से बाहर नहीं निकलता था, परंतु अब यह दशा थी कि ललित के साथ वायु-सेवन के लिए प्रतिदिन कोसों पैदल निकल जाता, सिनेमा देखने का चस्का जाता रहा। व्यक्तिगत विलास सामग्री और प्रदर्शन के व्यसन को भी तिलांजलि दे दी। अंग्रेजी शिक्षा से अब उसे घृणा हो गई।

रविवार के दिन मेरे यहां कुछ मित्रों की गार्डन-पाटी थी, खूब आनंद रहा। मैं अपने मित्रों के सत्कार में लगा हुआ था। उधर उपेन्द्र कुमार गोपाल, उमाशंकर और ललित में चुपके-चुपके बातें हो रही थीं। ये लोग क्या बातें कर रहे थे, यह बताना कठिन है, क्योंकि मैं तो पार्टी के झंझटों में उलझा हुआ था, उनकी ओर अधिक ध्यान न था। दूसरे वे मुझसे दूर थे और धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। बीच-बीच में जब ये लोग खिलखिलाकर हंस पड़ते तो मुझे भी हंसी आ जाती।

गोपाल बाबू को मैं काफी समय से जानता हूं। रिश्ते में यह संतोष कुमार के बहनोई होते हैं। प्रथम श्रेणी के शौकीन प्रेमी स्वभाव के हैं। आज देखा तो कलाई रिस्टवाच से खाली थी। रेशम की कमीज में से सोने के बटन गायब थे। होंठों की लाली गायब, बाल भी फैशन के न थे। मैंने संतोष कुमार से धीरे-से कहा—"आज तो भाई साहब का कुछ और ही रंग है, वह पहली-सी चटक-गटक दिखाई नहीं देती, क्या बात है? कुछ समझ में नहीं आता।"

संतोष कुमार ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"आजकल इन पर स्वदेशी भूत सवार है। कई महीने से यह इसी रंग में रंगे हुए हैं। क्या आपने आज ही इन्हें इस वेश में देखा है?"

मैंने उत्तर दिया—"हां, और इसीलिए मुझे आश्चर्य भी हुआ।"

संतोष कुमार ने किसी सीमा तक उपेक्षा-भाव से कहा—"हमें क्या मतलब? जो जिसके जी में आए करे। बार-बार समझाने पर भी यदि कोई न सुने तो क्या किया जाए। अधिक कहने-सुनने से अपनी प्रतिष्ठा पर आंच आती है। जैसी करनी वैसी भरनी प्रसिद्ध है। जब बंदी-गृह में चक्की पीसनी पड़ेगी तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा।"

मैंने कहा—"संतोष कुमार! तुम बिल्कुल सच कहते हो, जमाने की हवा

बहुत बदली हुई दिखाई देती है। ललित को भी कुछ स्वदेश की सनक है। यद्यपि मैं स्वदेशी का विरोधी हूं और देश-भक्त मुझे एक आंख नहीं भाते, फिर भी मैं ललित की स्पष्टवादिता और सात्विकता पर मुग्ध हूं। उसकी रुचि मुझे बहुत भाती है।"

संतोष कहने लगा—"लेकिन आपकी तरह उसकी धाक नहीं बंध सकती। आप जब पाश्चात्य वस्त्र पहनकर बाहर निकलते होंगे तो शिक्षित मनुष्य भय से कांप उठते होंगे और अशिक्षित व्यक्ति आपसे नमस्कार करके आकाश पर पहुंच जाते होंगे।"

मुझे हंसी आ गई, संतोष कुमार भी हंसने लगा। उस दिन रात को मैं अचेत सोया हुआ स्वप्न देख रहा था कि किसी ने मुझे झंझोड़ा, मैं चौंक गया। आंखें खोलकर देखता हूं तो मेरा नौकर रामलाल हाथ में लालटेन लिए खड़ा है। मुख पर हवाइयां उड़ रही हैं। शरीर थर-थर कांप रहा है। मैंने घबराकर उससे पूछा—"क्यों रामलाल क्या बात है? तुम कांप क्यों रहे हो?"

रामलाल ने उत्तर दिया—"बाबू! पुलिस ने सारा मकान घेर रखा है, कोई बात समझ में नहीं आती। मैं कोई चोर या बदमाश नहीं था, पुलिस का नाम सुनकर घबरा गया। दो-एक बेईमानियां जो छिपकर की थीं, वे आंखों के सामने घूमने लगीं। पूर्ण विश्वास हो गया कि पुलिस मुझे गिरफ्तार करने आई है।"

पुलिस की हलचल सुनकर मेरी चेतना जाती रही। साहस करके नीचे आया। रामलाल बोला—"आज्ञा हो तो दो-चार हाथ दिखाकर पुलिस वालों को धरती पर लिटा दूं?"

मैंने कहा—"सावधान! भूलकर भी ऐसा न करना। पुलिस से बिगाड़ करना अच्छा नहीं होता।"

द्वार खोल दिया। दो-तीन सार्जेण्टों के साथ एक श्वेत वस्त्रधारी बंगाली और आठ-दस सिपाही कमरे के अंदर घुस आए। बंगाली बाबू ने जेब से एक बादामी रंग का कागज निकालकर मुझे दिखाते हुए कहा—"यह गिरफ्तारी-वारंट है। आपके यहां विद्रोहियों की गुप्त मंत्रणा का स्थान है। विद्रोही तुरंत गिरफ्तार किया जाएगा।"

मुझ पर बिजली-सी टूट पड़ी। मैं समझा संभवतः मैं ही विद्रोही हूं और मेरी गिरफ्तारी का यह वारंट है, मुझे ही पुलिस गिरफ्तार करने आई है। आह! अब कुशल नहीं। यदि फांसी से बच गया तो काला पानी अवश्य ही भेजा जाऊंगा।

मैंने कंपकपाते हुए कहा—"विद्रोही और वह भी मेरे मकान में? आप क्या कह रहे हैं? मैं सरकार का शुभाकांक्षी हूं। इसी वर्ष मुझे राय साहब की उपाधि मिली है, आपको भ्रम हुआ है।"

एक सार्जेण्ट ने त्योरी बदलकर कहा—"अम काला आदमी नहीं है, गोरा आदमी कभी झूठ नहीं बोल सकता।"

बंगाली बाबू ने जरा नाराजगी की मुद्रा में कहा—"पुलिस को भ्रम नहीं हो सकता, भ्रम प्रायः डॉक्टरों को हुआ करता है।"

मैंने पूछा—"विद्रोही का नाम क्या है?"

"शरद् कुमार।"

"बंगाली है?"

"हां।"

"कहां का रहने वाला है?"

"श्री रामपुर का।"

मेरे सिर से जैसे विपत्ति-सी टल गई। नाम सुनते ही होंठों पर हंसी खेलने लगी। मैंने कहा—"महाशय! इस नाम का कोई व्यक्ति मेरे घर में नहीं है।"

"कोई और बंगाली आपके मकान में है?"

"हां, एक सीधा-साधा नवयुवक है, जो उमाशंकर को बंगला भाषा पढ़ाता है।"

उस श्वेत वस्त्रधारी बंगाली ने कहा—"हां! उसकी ही खोज है। उसका असली नाम शरद् कुमार है। पुलिस महीनों से उसके पीछे परेशान है, हाथ ही नहीं आता था।"

मैंने आश्चर्य से कहा—"वह तो जिला नदिया का रहने वाला है और आप कहते हैं कि अपराधी श्री रामपुर का निवासी है।"

"सब उसकी चालें हैं। वह श्री रामपुर का निवासी है। उसके पिता का नाम हृदयनाथ है, जो एक प्रसिद्ध जमींदार है।"

मैंने फिर पूछा—"उस पर क्या अपराध है?"

इंस्पेक्टर ने उत्तर दिया—"विद्रोह, एक गुप्त संस्था से उसका संबंध है। बम बनाना, चोरी, डकैती, कत्ल, लूटमार यह उनकी देश-सेवा है।"

यह सुनकर मुझे हंसी आ गई। मैंने कहा—"आप महानुभाव एक सत्रह-अठारह वर्ष के बंगाली युवक को विद्रोही बना रहे हैं। यह भला कोई मानने वाली बात है। एक साधारण युवक की गिरफ्तारी के लिए इतने व्यक्ति!"

चार सिपाही दरवाजे पर खड़े किए गए, घर की तलाशी शुरू हुई। दालान, कोठरी, बैठक, रसोईघर, यहां तक कि दिशा-मैदान तक के स्थान को ढूंढ़ डाला, किंतु ललित का कहीं पता न था। अलबत्ता उसके कमरे में एक कागज का टुकड़ा मिला। उस टुकड़े को पढ़कर सब आश्चर्य से एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। उसमें लिखा हुआ था—

*'इंस्पेक्टर साहब,*
*नमस्ते!*
*मैं फिर भाग रहा हूं। आपके पुलिस वाले समझ गए होंगे कि मैं कितना भयानक व्यक्ति हूं, जरा बचके रहिएगा।*

*भारत माता का तुच्छ सेवक*
*शरद्'*

बंगाली बाबू ने अपने माथे पर हाथ मारकर कहा—"बना बनाया खेल बिगड़ गया, कमबख्त ने चकमा दे दिया। महीनों की मेहनत पर पानी फिर गया।"

पुलिस निराश होकर वापस चली गई। हम सब भी उमाशंकर के साथ ललित के लिए आंसू बहाने लगे। ललित से हम सबको बहुत अधिक प्रेम था। उसका यह काम देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।

महाशय! मैं वही डॉक्टर हूं, मेरी डॉक्टरी बहुत चमक गई है, उमाशंकर मैट्रिक पास कर चुका है, उसकी दशा दिन-प्रतिदिन बदलती जा रही है। यह वही उमाशंकर है, जो अपने हाथों से गिलास में पानी भी नहीं डालता था, आज वही गरीबों की सेवा के लिए हर समय उद्यत रहता है। ललित के बाद स्वयंसेवक का जीता-जागता चित्र मुझे उमाशंकर में ही दिखाई दिया। एक दिन बैठे-बैठे ललित का ध्यान आ गया, आंखों में आसू भर आए। उसकी स्मृति से पुराना प्रेम ताजा हो गया। इसी बीच उमाशंकर ने कमरे में प्रवेश किया। उसके हाथ में एक अंग्रेजी का अखबार था। मुंह लाल हो रहा था, आंखें डबडबा रही थीं। उसने भर्राई हुई आवाज में कहा—"ललित को आजीवन देश-निकाले का दण्ड दिया गया है। वह कातिल नहीं था। वह देश का सच्चा सेवक, स्वतंत्रता का पुजारी, सहृदय और सबसे प्रेम का बरताव करने वाला मनुष्य था।

ललित का उद्देश्य कत्ल या लूटमार करना रहा हो या विद्रोह, इसके विषय में मैं कुछ नहीं जानता। मैं उसके स्पष्टवादी स्वभाव और उसकी सादगी का कायल हूं। मुझे उस पर पूर्ण विश्वास था।"

उमाशंकर के शब्द सुनकर मेरा हृदय दहल गया। उमाशंकर रोने लगा। मैं भी अधिक न सहन कर सका, मैंने अपने आंसू पोंछे। इसके पश्चात मैंने कहा—"उमाशंकर ललित को देखने के लिए हृदय विकल है, वह कब तक वापस आएगा।"

उमाशंकर ने इसका कोई उत्तर न दिया। वह दहाड़े मार-मारकर रोने लगा। उसकी यह दशा देखकर मुझसे भी सहन न हो सका। दशा भिन्न हो गई, हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गए, चिंता और क्रोध तिलमिलाने और छटपटाने लगा।

# कंचन

मैं विदेश से लौटकर नागपुर के एक विख्यात चंद्रवंशीय राजा के दरबार में नौकरी करने लगा। उन्हीं दिनों मेरी देशव्यापी कीर्ति के पटल पर अचानक एक छोटी-सी कली खिल उठी। उन दिनों आकाश टेसू की रक्तिमाभा से विभोर था। शाल वृक्ष की टहनियों पर मंजरियां झूल रही थीं। मधुमक्खियों के समूह मंडराते फिर रहे थे। व्यापारी लोगों का लाख संग्रह करने का समय आ गया था। बेर और शहतूत के पत्तों से रेशम के कीड़े इकट्ठे किए जा रहे थे। संथाल जाति महुए बीनती हुई यहां-वहां फिर रही थी। नूपुर की झंकार के समान गूंजती हुई नदी अपनी राह पर किलोल करते हुए बहती जा रही थी। मैंने स्नेह से उस नदी का नाम रखा था—'तनिका'।

उस समय का वातावरण अनोखे आवेश से परिपूर्ण था। उसका मेरे मन पर भी अधिकार हो गया जिससे मेरे कार्य की गति मंथर पड़ गई। तब मैं अपने पर ही खीझ उठा। दिन ढल रहा था। एक स्थान पर दोआबा बनाती हुई नदी दो शाखाओं में विभक्त हो रही है। उसी बालू के टीले पर बगुलों की पंक्ति शांत भाव से बैठी थी। अपनी झोली में रंग-बिरंगे पत्थरों को भरे मैं कोठी की ओर लौट रहा था। यह सोचकर कि अपनी विज्ञानशाला में इनकी परीक्षा करूंगा। निर्जन वन में अकेले आदमी का समय काटना कठिन-सा हो जाता है। अतः मैंने संध्या के बाद का समय प्रयोग के लिए नियत कर रखा है।

डायनमो द्वारा बिजली की रोशनी कर मैं नाना प्रकार के रासायनिक द्रव्य, माइक्रोस्कोप और तराजू लेकर बैठ जाता हूं। इसी प्रकार बैठे-बैठे कभी-कभी आधी रात हो जाती है। मुझे आज विशेष खोज के बाद 'मेगनीज' के चिन्हों का आभास मिला था। इसलिए मेरी वापसी आज विशेष उत्साह के साथ हो रही थी। उस वातावरण में सिर पर कांव-कांव करते हुए कौए अपने-अपने घोंसलों की ओर बढ़े चले जा रहे थे।

इसी समय मेरे सम्मुख एक बाधा आकर खड़ी हो गई। उस निर्जन पथ के एक टीले पर पांच शाल वृक्षों का एक व्यूह जैसा समूह खड़ा था। उसके झुरमुट में बैठी छाया को केवल एक ही ओर की दिशा से देखा जा सकता था। उस समय मेघों के अंतराल से एक आश्चर्यमयी दीप्ति फूटकर निकल रही थी। उस छायामय

वातावरण के भीतर गगन की लालिमा मानो किसी दिवांगना के खुले आंचल से गिरने वाले स्वर्ग की तरह छितरा रही थी। उसी विशेष ज्योति के पथ पर वह कोमलांगी बैठी थी। उन पेड़ के तने से टिककर दोनों पैरों को छाती के समीप समेटे वह मन लगाकर कुछ लिखे जा रही थी।

मैं वृक्ष की आड़ में खड़ा होकर केवल उसकी ओर ताकता-भर रहा। हृदय के अंतर में एक अनोखी छवि अंकित होने लगी। अपनी विशद् जानकारी के पथ पर मेरा हृदय कितने ही चक्कर काटकर पुनः प्रवेश-द्वार तक आ पहुंचा था, किंतु मैं सदैव ही उससे खिसक जाता था। लेकिन आज ऐसा जान पड़ा, मानो मैं जीवन के किसी चरम के संघर्ष में आ गया हूं। यह कैसे हो गया? उसका मुझे पता नहीं। मैं तो सदैव से अपने को पहाड़ की तरह नीरस समझता आया था। अनायास ही मेरे भीतर से एक झरना फूट पड़ा।

शायद उस बाला को भी मेरे खड़े होने का कुछ आभास-सा हो गया। उसने लिखना बंद कर दिया, किंतु उठ न सकी। मैंने सोचा कि कहूं—'क्षमा कीजिए! किंतु कैसी क्षमा? मैंने ऐसा कौन-सा दण्डनीय कार्य किया था?'

यही सोचता हुआ मैं अपनी कोठी की ओर बढ़ा चला जा रहा था, तभी मेरी दृष्टि नीचे पड़े दो टुकड़ों में फाड़े हुए किसी पत्र के लिफाफे पर जा पड़ी। मैंने उठाकर देखा—नाम, भवतोष मजूमदार, आई.पी.एस., मुकाम छपरा। हाथ की लिखावट लड़कियों जैसी। टिकट लगा हुआ है, लेकिन उस पर डाकखाने की मोहर नहीं है। मेरी अक्ल ने झट समझ लिया कि फटे पत्र के लिफाफे पर किसी दुखांत नाटक के क्षत चिन्ह विद्यमान हैं और मैंने उस लिफाफे के रहस्य को जानने का संकल्प कर दिया।

ज़ियोलॉजी के अध्ययन अभ्यास के साथ भीतर-ही-भीतर इस रहस्योद्घाटन का काम भी चल रहा था। जिस समय मैं रेडियम का कण पाने की आशा लेकर अनुसंधान में डूबा हुआ था। उस समय मैंने कुसुमित शाल वृक्षों की छाया और प्रकाश के बंधन में कंचन को देखा था। इसमें कोई शक नहीं कि मैंने इससे पूर्व भी बंगाली बाला को निहारा था, किंतु इस स्वतंत्र और एकांत वातावरण में उसे देखने का अवसर कभी नहीं मिला। यहां उसकी सलोनी देह की कोमलता के साथ मानो वन के फूल ने अपनी भाषा का स्वर मिला दिया हो। मैंने विदेशी कोमलांगियों के दर्शन तो बहुत किए थे। संभवतः वे भली भी लगी थीं, किंतु बंगाली बाला को पहली बार ही इस प्रकार से देखा कि उसकी समग्रता को उपलब्ध किया जा सके। उसे देखकर यह प्रतीत नहीं होता कि उसका संबंध किताबों से छूटा या नहीं...।

बहुत दिन पहले बाल्यावस्था में किन्हीं बसु महाशय का जो गीत मैंने सुना था और जिसे सुनकर भी भुला दिया था, न जाने क्यों ऐसा जान पड़ा कि उस राग की सहज संगिनी में इसी बंगाली लड़की के रूप की जो भूमिका समाहित है, वह आज मेरी आंखों के सामने साकार हो उठी है।

जियोलॉजी शास्त्र में मैंने पढ़ा था कि पृथ्वी के नीचे छुपी हुई आग्नेय सामग्री सहसा तेज भूकम्प से आंदोलितावस्था में ऊपर आ जाती है। आज अपने ही निम्न स्तर के अंधकार में छुपी हुई उसी तपी भली सामग्री को सहसा ऊपर के प्रकाश में देखा। कठोर विज्ञानी नीलामाधव के अंतस्थल में इस प्रकार आंदोलितावस्था की मैंने कभी आशा भी नहीं की थी।

पता लग गया कि प्रतिदिन तीसरे पहर जब मैं इसी मार्ग से काम से लौटा करता हूं तो वह मुझे विशेष दृष्टि से देखती है, पर उसकी दृष्टि में क्या है, यह अब तक मैं समझ नहीं सका था? कभी-कभी मैं मार्ग पर चलता हुआ पीछे की ओर मुड़कर देख लेता तो ऐसा लगता कि कंचन मेरे ओझल होने के मार्ग की ओर देख रही है, मुझे मुड़ता देख वह अपनी दृष्टि घुमाकर उन कागजों की ओर कर लेती, जिन पर बैठी वह लिखा करती थी।

मेरे विज्ञानी मन को ऐसा लगा कि वह किसी को पाने के लिए इतना कठोर व्रत कर रही है? भवतोष विलायत से लौटकर छपरा में असिस्टेंट मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त हो गया है। विलायत जाने से पूर्व इन दोनों में यहीं रहते समय प्रणय हो गया था, परंतु अब भवतोष की नियुक्ति के बाद कोई विशेष विप्लव घट चुका है। असल बात क्या है? इसका तो जानकारी करने से ही पता लगेगा।

मेरे लिए जानकारी करना कोई कठिन कार्य नहीं था, क्योंकि मेरे सहपाठी बंकिम बाबू पटना विश्वविद्यालय में काम करते थे। मैंने उनको पत्र लिखकर डाल दिया—

*'बिहार की सिविल सर्विस में कोई भवतोष महाशय हैं। मेरे किसी मित्र ने अपनी लड़की के लिए इन्हें पसंद किया है। इस कार्य में मेरा सहयोग चाहते हैं। रास्ता पथरीला तो नहीं। इसका पूरा पता लगाकर मुझे लिखो तो मैं आभारी रहूंगा। उन महाशय का विवाह के लिए क्या मत है, यह भी लिखिए?'*

शीघ्र ही मेरे पत्र का उत्तर मिला—

*'रास्ता पथरीले से भी अधिक कष्टकर है। उसकी राय के विषय में सुनो। जब मैं कॉलेज में डॉ. अनिलकुमार का छात्र था। जितना साधारण उनका पांडित्य था, उतना ही सरल उनका हृदय। उनकी नातिन को देखो तो पता लगेगा कि सरस्वती देवी ने उनकी साधना से संतुष्ट होकर, उनके बुद्धि लोक को ही प्रकाशित नहीं किया, बल्कि वह रूप सुधा को लेकर उनकी गोदी में*

*भी आई हैं। तुम्हारा शैतान भवतोष उनके इसी स्वर्गलोक में न जाने कहां से आन पड़ा? उसकी बुद्धि प्रखर थी और वाक्पटुता में निपुण। पहले धोखा खाया डॉक्टर साहब ने और बाद में उनकी नातिन ने। विवाह संबंध निश्चित हो चुका था, प्रतीक्षा थी भवतोष की विलायत से लौटने की। वहां का सारा खर्च डॉक्टर साहब ने दिया था। सिविल सर्विस की परीक्षा पास करके जब वह भारत वापस आया तो उसने यहां के किसी उच्च पदाधिकारी की कन्या से विवाह कर लिया? उसके इस कुकृत्य और लज्जा से क्षुब्ध होकर डॉक्टर साहब नौकरी को तिलांजलि देकर अपनी नातिन के साथ कहां चले गए? इसका आज तक कुछ पता नहीं।'*

पत्र को पढ़कर मुझे कंचन की परिस्थिति का पूर्ण आभास हुआ। तभी मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि उसको लज्जा और अपवाद से मुक्त करूंगा।

दिवाकर अस्पताल की ओर जा रहे थे। संध्या अपना आंचल फैला रही थी। यह समय कंचन का घर लौटने का हो गया था। तभी कोई गंवार उसके हाथ से लिखे हुए पृष्ठ छीनकर भाग खड़ा हुआ। मैंने उसका पीछा किया और उन पृष्ठों को पाने में सफल हो गया। मैंने वे पृष्ठ कंचन को वापस लौटा दिए। अपनी सम्पत्ति को वापस आया देखकर कंचन ने स्निग्ध दृष्टि से मुझे देखते हुए कहा—"सौभाग्य से आप...।"

मैंने कहा—"भाग भले थे कि वह आया...।"

"इसका आशय!"

"स्पष्ट है।"

"मैं नहीं समझी।"

"यही कि उसकी सहायता से आपके साथ ही पहली बात हो गई। इससे पूर्व वही सोचता रहता था कि कैसे और क्या बोलूं?"

"किंतु वह तो एक...!"

"क्या एक?"

"डाकू।"

"नहीं, वह डाकू नहीं, वह मेरा ही सिपाही था।"

कंचन अपने गहरे रंग की साड़ी का छोर पकड़कर अपने मुंह पर रख खिलखिलाकर हंस पड़ी। हंसी रुकते ही उसने कहा—"काश, यह सच होता तो बड़ा मजा आता।"

"जिसके यहां डाका पड़ा उसको।"

"उद्धार करने वाले के लिए क्या होगा?"

"उसे घर पर ले जाकर चाय पिला देती।"

"और इस नकली उद्धारकर्ता का क्या होगा?"

"उसने जो चाहा था, वह उसे मिल गया।"

"क्या मिल गया?"

"परिचय की पहली बात और क्या?"

"बस, सिर्फ इतना ही!"

"हां।"

"इसके अलावा और कुछ नहीं चाहते?"

"चाहता हूं।"

"क्या चाहते हैं आप?"

"बातों का यह क्रम अब समाप्त न हो जाए।"

"समाप्त कैसे होगा?"

"अच्छा यदि मेरी जगह आप होतीं तो पहली बात आप क्या कहतीं?"

"मैं तो केवल यही पूछती कि सड़कों पर से पत्थर चुनने में लड़कपन नहीं लगता आपको?"

"फिर आपने पूछा क्यों नहीं?"

"डर लगा था।"

"डर! मुझसे!"

"हां, दादू से सुना था कि आप बहुत बड़े विद्वान हैं। उन्होंने विलायत से छपा हुआ आपका कोई लेख पढ़ा था। उन्होंने उसे मुझे समझाने का प्रयत्न किया, पर मैं समझ न सकी।"

तभी किसी की आवाज सुनाई दी—"दीदी कहां हो तुम? अंधेरा हो गया है। आज कल समय अच्छा नहीं है।"

डॉक्टर साहब के उपस्थित होते ही मैंने उनके चरणों की धूल लेकर प्रणाम किया। वे तनिक सहम गए। मैंने उन्हें अपना परिचय दिया—"मेरा नाम नवीन माधव सेन गुप्त है।"

उसे सुनकर वृद्ध डॉक्टर का मुख उज्ज्वल हो उठा और बोले—"क्या कहते हो? आप ही डॉक्टर सेन गुप्त हैं? आप तो अभी बच्चे हैं।"

मैंने उत्तर दिया—"अभी बच्चा हूं, मैंने अभी छत्तीस को पार किया है।"

"आपको हमारे यहां चलना होगा।"

"इसके लिए कहना न पड़ेगा दादू! ये पहले ही चलने के लिए मुंह धोए हुए हैं।"

मैंने मन-ही-मन कहा—'अनर्थ हो गया! कैसी शरारत की है कंचन ने?'

डॉक्टर साहब ने उत्साहित होकर ऊंचे स्वर में कहा—"आपको शायद देश और काल की...।"

"नहीं, नहीं! मैं इन चीजों को कुछ भी नहीं समझता। मुझे समझाने में आपका समय ही बर्बाद होगा।"

"समय! यहां समय का अभाव ही क्या है? अच्छा, आज भोजन हमारे यहां करें।"

मैं धन्यवाद करने ही जा रहा था कि अचानक कंचन बोल उठी—"दादू! हरेक को न्यौता देकर आप मुझे मुश्किल में क्यों डाल देते हो? भला इस जंगल में फिरंगी की दुकान कहां मिलेगी? ये विलायत के 'डिनर' खाने वाली जाति से संबंधित इंसान हैं। व्यर्थ में अपनी नातिन को बदनाम करना चाहते हो?"

"अच्छा, अच्छा तो कब आपको सुविधा होगी बताइए?" वृद्ध महाशय ने मुझसे पूछा।

"मेरी सुविधा तो कल ही हो सकती है, परंतु मैं कंचन देवी को परेशान नहीं करना चाहता। मुझे अनुसंधान के लिए वनों में जाना पड़ता है। वहां जो कुछ भी प्रकृति की देन के रूप में वातावरण द्वारा मिलता है, उसे बटोरकर ले आता हूं।"

"दादू! इनकी बातों पर विश्वास मत कीजिए...ये तो ऐसे ही कहते रहते हैं।"

मैंने सोचा कि यह तो अजीब लड़की है, मैं जो भी कहता हूं, उसी को जड़ से काट देती है। इस प्रकार वार्ता करते-करते हम सब कंचन के मकान की ओर बढ़े चले जा रहे थे कि कंचन हठात् बोल उठी—"अब आप अपने शिविर को लौट जाइए।"

"क्यों? मैंने तो सोचा था कि आप लोगों को मकान तक छोड़कर आऊंगा।"

"बस, बस, हम खुद ही चले जाएंगे। अस्त-व्यस्त अवस्था में मकान को दिखाकर मैं परिहास का केंद्र नहीं बनना चाहती। उसे देखते ही मेम साहब की याद आ जाएगी।"

विवश होकर मुझे विलग होना पड़ा। उस अवस्था में मैंने कहा—"कल आप लोगों के मेरा न्यौता है, वह मेरे नए नामकरण के लिए है। कल से नवीन माधव नाम का डॉक्टर सेन गुप्त अंश छूट जाएगा।"

"तब तो नामवर्त्तन कहिए, नामकरण क्यों कहते हैं?"

"जैसा आप उचित समझें।"

इसके उपरांत मैं अपने शिविर में लौट आया। उस दिन अनुसंधान के लिए लाए हुए पदार्थों की मैं परख नहीं कर सका। मेरा मस्तिष्क कंचन के विषय में ही सोचता रहा।

अगले दिन तनिका के तट पर कंचन के साथ हमारी पिकनिक हुई। डॉक्टर साहब बालकों के समान मुझसे पूछ बैठे—"नवीन! क्या तुम अविवाहित हो?"

मैंने उस भावार्थ प्रश्न का तुरंत ही उत्तर देते हुए कहा—"अभी तक तो अविवाहित ही हूं।"

कंचन को किसी बात से संतुष्टि नहीं? वह बोली—"दादू! ये शब्द तो कन्यापक्ष वालों को सांत्वना देने मात्र के लिए हैं। उनका कोई यथार्थ अर्थ नहीं है।"

"यथार्थ अर्थ नहीं, यह कैसे निश्चित कर लिया?"

"यह एक गणित की उलझन है, फिर भी उच्च गणित कहने से जो वस्तु समझी जाती है, वह यह नहीं है। यह तो पहले से ही सुनने में आया है कि आप छत्तीस साल के बच्चे हैं। इस अर्से में आपसे भी पांच-सात बार कहा जा चुका है कि बेटा बहू लाना चाहता हूं। लेकिन आपने कहा—'इससे पहले मैं लोहे के संदूक में रुपए लाना चाहता हूं।' इसके बाद इस अर्से में आपका सब कुछ हो गया, केवल फांसी शेष थी। अंत में प्रांतीय सरकार में बड़ा पद मिल गया तो मां ने फिर कहा—'अब तो बेटा ब्याह करना होगा। मेरी जिंदगी के और कितने दिन बाकी हैं?' आपने कहा—'मेरा जीवन और मेरा विज्ञान एक है, उसे मैं देश के लिए उत्सर्ग करूंगा। मैं अभी ब्याह न करूंगा।' विवश होकर फिर उन्होंने आंखों का पानी पोंछकर चुप्पी साध ली। आपके छत्तीस वर्ष का हिसाब लगाते समय मैंने कहीं गलती की हो तो कहिए, वास्तव में बताइए, संकोच की कोई आवश्यकता नहीं है।"

कुछ देर बाद पुनः बोली—"हम लोगों के देश में आप लोग लड़कियों को जीवन-संगिनी के रूप में पाते हैं। विश्व का जिससे कोई प्रयोजन नहीं, किंतु विदेश में जो लोग विज्ञान के तपस्वी हैं, उनको तो उपयुक्त तपस्विनी ही मिल जाती है, जैसे अध्यापक क्यूरी को सहधर्मिनी मादाम क्यूरी मिली तो क्या वैसी कोई आपको वहां रहते नहीं मिली?"

कंचन के यह कहते ही मुझे कैथेरियन की बात याद आ गई। लंदन में रहते समय हमने साथ-साथ काम किया था। यहां तक कि मेरी एक रिसर्च की पुस्तक में मेरे नाम के साथ उसका नाम भी जड़ित था। उसकी बात सत्य थी, यह बात माननी पड़ी।

कंचन ने तत्काल ही पूछा—"उनके साथ आपने विवाह क्यों नहीं किया? वे क्या इसके लिए तैयार नहीं थीं?"

"उन्हीं की ओर से प्रस्ताव तो उठा था।"

"तब?"

"मेरा नाम भारतवर्ष का ठहरा, इसलिए...।"

"यानी स्नेह की सफलता आप जैसे साधकों की कामना की वस्तु नहीं है। लड़कियों के जीवन का परम लक्ष्य व्यक्तिगत है और आप जैसे इंसानों का नैर्यक्तिक।"

इसका उत्तर मुझे नहीं सूझा। मुझे चुप देखकर कंचन पुनः बोली—"बंगला साहित्य कतिपय आपने नहीं पढ़ा। उसमें यही बात दिखाई गई है कि लड़कियों का व्रत पुरुष को बांधना है और पुरुष का व्रत है उस बंधन को काटकर ऊपर लोक का मार्ग पकड़ना। कच भी देवयानी के अनुरोध की उपेक्षा कर निकल पड़ा था। आप मां का अनुनय न मानकर चल पड़े हैं। एक ही बात हुई। यह नारी और पुरुष में चिरकाल से चला आने वाला स्वभाव है चाहे भले ही अबला क्रंदन होता रहे। उस क्रंदन से आप लोग अपनी पूजा का नैवेद्य सजा लीजिए। देवता के उद्‌देश्य से ही नैवेद्य की भेंट होती है, लेकिन देवता निरासक्त ही रहते हैं।"

कंचन ने फिर कहा—"देवयानी ने कच को क्या श्राप दिया था, जानते हैं नवीन बाबू?"

"नहीं।"

"अपने ज्ञान-साधन का फल आप स्वयं न सोच सकेंगे। हां, दूसरों को दान कर सकेंगे। मुझे यह सब कुछ अजीब-सा लगता है। यदि यह श्राप आज कोई विदेशी लोगों को देता तो वह बच जाता। विश्व की सामग्री को अपनी सामग्री के समान व्यवहार करने की वजह से ही यूरोप वाले लालच के द्वार पर मरते हैं।"

उस दिन जो बातें हुईं, वे केवल हास्य-व्यंग्य ही नहीं थीं। उनमें युद्ध की ओर संकेत था। कंचन के साथ अब मेरा संबंध सहज हो गया है, इस पर भी मैं कंचन के सम्मुख खड़ा होकर उसकी चरम अभिलाषा की थाह पाने का कोई उपाय खोज नहीं पाया।

हां, अवश्य एक दिन पिकनिक के समय यह सुयोग मिल गया। उस समय डॉक्टर साहब शिवालय के खंडहर की सीढ़ी पर बैठकर रसायन-शास्त्र की कोई नई किताब पढ़ रहे थे। एक आबनूस के पेड़ की झाड़ी में बैठकर कंचन अचानक कह उठी—"इस महाकाल के वन में एक अंधी प्राण शक्ति है, मैं उससे भयग्रस्त हूं।"

कंचन कहती गई—"पुराने भवनों की दरार से लुक-छिपकर पीपल का अंकुर निकलता है और फिर धीरे-धीरे अपनी जड़ों से उसे बुरी तरह जकड़ लेता है। यह भी वैसा ही है। दादू के साथ यही बात हो रही थी। दादू कह रहे थे कि बस्ती से बहुत दिनों तक दूर रहने की प्रकृति के अभाव से मानव का चित्त दुर्बल हो जाता है और आदमी पर प्राणी प्रकृति का असर प्रखर हो उठता है।"

मैंने उत्तर दिया—"बताता हूं। मेरी बात को भली-भांति सोचकर देखिएगा। मेरा विचार है कि ऐसे अवसरों पर मानव का संग भीतर और बाहर से मिलना चाहिए, जिसका प्रभाव मानव प्रकृति को पूर्ण कर सके। जब तक यह नहीं होगा, तब तक अंध शक्ति से पराजित ही होना पड़ेगा। काश आप मामूली...।"

"हां, हां कहिए, संकोच मत कीजिए।" कंचन ने शीघ्रता से कहा।

"यह तो आप लोग जानते ही हैं कि मैं वैज्ञानिक हूं। अतः मैं जो कहने जा रहा हूं, उसे व्यक्तिगत आसक्ति से रहित होकर ही कहूंगा। आपने एक दिन भवतोष को बहुत स्नेह से देखा था, क्या आज भी उसे उसी प्रकार...?"

"समझ लीजिए, नहीं करती...तब।"

"मैंने ही आपके मन को उधर से हटाया है।"

"सम्भव हो सकता है, लेकिन आपने ही नहीं, बल्कि इस अंध शक्ति ने भी। इसलिए मैं इस हटने को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखती।"

"ऐसा क्यों?"

"दीर्घ काल के प्रयास से मानव चित्त शक्ति में अपने आदर्श की रचना करता है, प्राण शक्ति की अंधता उस आदर्श को तोड़ देती है। आपके प्रति जो मेरा प्रेम है, वह अंध शक्ति के आक्रमण का फल है।"

"नारी होकर भी आप प्रेम पर ऐसा अपवाद मढ़ती हैं?"

"नारी होने के कारण ही ऐसा कह रही हूं। प्रेम का आदर्श हमारे लिए पूजा की सामग्री है। उसी को सतीत्व कहते हैं। सतीत्व हमारे लिए एक आदर्श है। यह सामग्री वन की प्रकृति की नहीं है, बल्कि मानवी की है। इस निर्जन वन में इतने दिनों से इसी आदर्श की पूजा कर रही थी। सारे आघातों को सहने और धोखा खाने के बाद भी उसे बचा सकी तो मेरी पवित्रता भी नहीं जाएगी।"

"क्या भवतोष के लिए अब भी श्रद्धा का स्थान है?"

"नहीं।"

"उसके पास जाना चाहती हो?"

"नहीं।"

"तो फिर?"

"कुछ भी नहीं।"

"मैं आशय नहीं समझा।"

"आप समझ भी नहीं सकेंगे। आपकी सम्पत्ति ज्ञान है, उच्चतर शिखर पर वह भी इम्पर्सनल है। नारी सम्पत्ति हृदय की सम्पत्ति है। यदि उसका सब कुछ चला जाए, वह सब कुछ जो बाहरी है, जिसे स्पर्श किया जा सकता है, तब भी उस प्रेम में वह वस्तु बची रहती है, जो कि इम्पर्सनल है।"

"वाद-विवाद में समय नष्ट न कीजिए। मुझे कुछ ही दिनों में खोज करने के अभिप्राय से अन्यत्र कहीं चले जाना होगा, किंतु...।"

"फिर गए क्यों नहीं?"

"आपसे...।"

तभी कंचन ने पुकारा—"दादू!"

डॉक्टर साहब अपना पढ़ना-लिखना छोड़कर उठ आए और मधुर स्नेह के स्वर में बोले—"क्या है दीदी?"

"आपने उस दिन कहा था न कि मनुष्य का सत्य उसी की तपस्या के भीतर से अभिव्यक्त हुआ है। उसकी अभिव्यक्ति प्राणी शास्त्र से समझी जाने वाली अभिव्यक्ति नहीं है?"

"हां बिल्कुल ठीक...।"

"दादू तो फिर आज अपनी और आपकी बात का निर्णय कर दूं। कई दिनों से मस्तिष्क उथल-पुथल का केंद्र बना हुआ है।"

मैं उठकर खड़ा हो गया और बोला—"तो मैं चलूं।"

"नहीं! आप बैठिए। दादू, आपका वही पद फिर खाली हुआ है और सेक्रेटरी ने पुनः आपको बुलवाया भी है।"

"हां तो फिर...।"

"आपको उस पद को स्वीकार करना होगा...अतिशीघ्र वहीं लौट जाना होगा।"

डॉक्टर साहब बेचारे हैरान होकर कंचन के मुंह की ओर ताकते रहे। कंचन बोली—"अच्छा, अब समझी, आप इसी सोच में पड़े हैं कि मेरी क्या गति होगी? यदि अहंकार की मात्रा बहुत न बढ़ती हो तो आपको यह बात स्वीकार करनी ही होगी कि मेरे बिना आपका एक दिन भी नहीं चल सकता। मेरी अनुपस्थिति में तो पंद्रहवीं आश्विन को आप पंद्रहवीं अक्टूबर समझ बैठते हो। जिस दिन घर में अपने सहयोगी अध्यापक को भोजन के लिए आमंत्रित करते हो, उसी दिन लाइब्रेरी का द्वार बंद करके कोई 'निदारूण ईक्वेशन' सुलझाने में लग जाते हो। नवीन बाबू सोचते होंगे कि मैं बात बढ़ा-चढ़ाकर कह रही हूं।"

"आज ऐसी अशुभ बातें...।"

"सारी बातें अभी खत्म हो जाएंगी। आप चलें तो मेरे साथ अपने काम पर, छूटी हुई गाड़ी फिर वापस लौट आएगी।"

डॉक्टर साहब मेरी ओर देखकर बोले–"तुम्हारी क्या सलाह है नवीन?"

मैं क्षण-भर चुप रहकर बोला–"कंचन देवी से अधिक अच्छा परामर्श कोई नहीं दे सकता।"

कंचन ने उठकर मेरे चरण छूकर प्रणाम किया तो मैं संकुचित होकर पीछे हट गया। कंचन बोली–"संकोच न कीजिए। आपकी तुलना में मैं कुछ भी नहीं हूं... यह बात किसी दिन साफ हो जाएगी? आज आपसे यही अंतिम विदा लेती हूं, जाने से पहले अब भेंट न होगी।"

"यह कैसी बात कह रही हो, दीदी?" डॉक्टर साहब ने पूछा।

"दादू...।" इतना ही कह सकी कंचन।

मैंने उसी क्षण डॉक्टर साहब की पग-धूलि का स्पर्श किया। उन्होंने छाती से लगाकर कहा–"मैं जानता हूं नवीन कि तुम्हारी कीर्ति का पाठ तुम्हारे सामने प्रशस्त है।"

अपने स्थान पर लौटकर मैंने पहला रिकार्ड निकाला। उसे देखते ही मन में सहसा आनंद उमड़ आया। समझा मुक्ति इसी को कहते हैं। संध्या बेला में दिन-भर का काम समाप्त करने के बाद बरामदे में आते ही अनुभव हुआ कि पंछी पिंजरे से निकल आया है, किंतु उसके पांवों में जंजीर की एक कड़ी अब भी उलझी हुई है... हिलते-हिलते कभी-कभी वह कड़ी बज उठती है।

## रवीन्द्रनाथ ठाकुर

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और शारदा देवी की चौदहवीं सन्तान के रूप में 7 मई 1861 को कोलकाता में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। बाद में अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड गये। संगीत, कला और लेखना का माहौल विरासत में मिला। संस्कृत, बांग्ला और अँग्रेजी भाषा–साहित्य के प्रति बचपन से ही रुचि रही।

सन् 1883 में मृणालिनी देवी से विवाह हुआ, पाँच सन्तानों के पिता हुए पर एक–एक कर सबका बिछोह सहना पड़ा। वियोग ने उन्हें अधिक उदात्त, मानवीय और वैश्विक बनाया। देश–विदेश की यात्रा की। लगभग हर विधा में लिखा। संगीत, नाट्यकला और चित्रकला में भी उल्लेखनीय योगदान। कुल पुस्तकों की संख्या प्रायः दो सौ। गीत संग्रह 'गीतांजलि' पर वर्ष 1913 का साहित्य का नोबेल पुरस्कार, साथ ही देश–भर में अकूत सम्मान। महात्मा गाँधी ने 'गुरुदेव' की उपाधि दी।

'विश्वकवि' की पदवी से विभूषित किये गये। वे एक मौलिक चिन्तक थे, जिसका प्रमाण है शिक्षा और शिल्प के उनके द्वारा स्थापित मॉडल 'शान्तिनिकेतन' और 'श्रीनिकेतन'। एक तरह से कहा जाय तो इस सम्पूर्ण भारतीय महाद्वीप की बौद्धिक मनीषा के प्रतीक बन गये कविगुरू रवीन्द्रनाथ। 7 अगस्त 1941 को उनका निधन हुआ।

CM